साहित्य क्यों ?

विजय देव नारायण साही

साहित्य क्यों ?

•

लेखक

विजयदेव नारायण साही

•

सम्पादक

श्रीमती कंचनलता साही

•

प्रकाशन

प्रदीपन एकांश

६५ टैगोर टाउन, इलाहाबाद १४ बैंक रोड इलाहाबाद

साहित्य क्यों ?

लेखक : विजयदेव नारायण साही

प्रथम संस्करण : सितम्बर १९८८

मूल्य : पैंतालिस रुपये

मुद्रक : नागरी प्रेस, अलोपीबाग, इलाहाबाद

लार्डशिप !

विदेश में जन्मे पौत्र की घुट्टी में पड़े
पितामह की 'भारतीयता' का परम मंत्र
जो 'विवेक' और 'सृजनशील आत्मविश्वास से'
भविष्य का सामना
'संकल्प सहित बदलाव'
द्वारा करता है,
इसलिए **'सौहार्द'** को देती हूँ
आपका
'साहित्य क्यों ?'
और
उसके सब प्रश्न
— **केजी**

आमुख

साही जयन्ती की हर पुनरावृत्ति पर उनकी पुस्तक छपवाने की कोशिश है। 'साखी', 'जायसी', 'साहित्यकार का दायित्व' और '**छठवाँ दशक**' उसके परिणाम हैं।

विचार कर रही थी इस वर्ष क्या छपवाना लाज़मी होगा : निबंध-संग्रह या कविता-संग्रह। फिर सोचा अभी तो 'साखी' ही अपने प्रकाशक की कृपा से पाठकों तक नहीं पहुँची : जटा जूट में विचरण कर रही है। नया काव्य-संग्रह छपवाकर क्या होगा। अतः निबन्ध-संग्रह ही छपवा रही हूँ।

पिछला निबन्ध-संग्रह 'छठवाँ दशक' मय-शीर्षक भूमिका के साही जी प्रकाशनार्थ तैयार कर गये थे। प्रकाशन का निश्चय और प्रकाशक का चुनाव मेरा था। समय की कमी के कारण मुद्रक और प्रकाशक महोदयों ने उसमे से कुछ निबन्ध कम कर देने का बारम्बार अनुरोध किया। पर जिन्हें साही जी एक छत के नीचे बसा गये उनमें से किसी को भी घरनिकाला देने की मनः-स्थिति मैं नहीं बना पायी। फिर सवाल यह भी था कि साही जी के इस पक्के गाने में से कौन सी बन्दिश को मैं निष्कासित कर दूं प्रस्तुति की पूर्णता को भंग किये बिना। 'छठवें दशक' की जिस आत्मा का ज़िक्र साही जी ने 'इन लेखों के बारे में' किया था उसे ज्यों-का-त्यों प्रेषित करना मेरा धर्म था और उसे मैंने ज़िद्दन निभाया।

इस बार संकलन करने और शीर्षक चुनने का दायित्व भी मेरा हुआ। निबंधों का चुनाव कर लेने के बाद शीर्षक उपरोपित करने की अपेक्षा संकलित निबंधों के शीर्षको में से जो शीर्षक पूरे संग्रह पर सटीक बैठता लगा चुन लिया। इस संग्रह में संकलित लेख 1965 से 1979 के बीच लिखे गये इसमें हम साही जी के चिन्तन की 'छठवाँ दशक' के बाद की कड़ी प्रस्तुत करते हैं। इन लेखों के छपने में मदद के लिए मैंने साही जी के विशेष स्नेह-भाजन और साही-चिन्तन के ज्ञाता एवं मर्मज्ञ डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र से सहयोग लिया है।

साही जी के लेखों के बारे में सिर्फ़ इतना ही उल्लेख करूँगी कि "धर्म

निरपेक्षता की खोज" और "सांस्कृतिक परिवर्तन में पश्चिमवाद की कसौटी" शिमला के इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज में प्रस्तुत निबन्ध थे और 'हमारा समय' मध्यप्रदेश कला परिषद द्वारा आयोजित "अरविन्द सेमिनार" में दिया गया भाषण था। "भारतीयता क्या है" आकाशवाणी इलाहाबाद से प्रसारित वार्ता है। "इतिहास और परम्परा" 1965 में माया में छपा था। "लोक-तांत्रिक समाजवाद में साहित्य की भूमिका" अंतर्साक्ष्य से लोहिया के न रहने पर लिखा गया सातवें दशक का लेख है।

पुस्तक प्रकाशन से सम्बद्ध साही जी की जो शर्तें हैं वे घोषित, विदित और चर्चित है। अपनी समझ भर मैंने प्रकाशकों का चुनाव उन शर्तों को सामने रखकर ही किया। जबानी और कागज पर तो सबने माना लेकिन कर्म में किसी प्रकाशक ने सब शर्तों को पूरा नहीं किया। इस बार जो प्रकाशक आये वे सब भी साही जी की शर्तों को कर्म में पूरा करते नहीं दीखे। अतः यह दायित्व भी इस बार मैंने ही ओढ़ लिया।

अपनी सीमाएँ जानती हूँ लेकिन गति में पड़ गयी हूँ इसका दायित्व जहाँ तक ले जायेगा, जाऊँगी। सीमाहीन सागर में नाम लेकर उतर पड़ी हूँ बिला जाऊँगी या किनारा मिलेगा, समय ही बताएगा।

१४ बैंक रोड, इलाहाबाद — **कंचनलता साही**

१ अक्टूबर, १९८८

अनुक्रम

साहित्य क्यों

शायद आप में से अधिकांश ने गालिब का वह प्रसिद्ध शेर सुना होगा :

सख़ुन में खामये ग़ालिब की आतिश अफ़शानी
यक़ीन हमको भी है लेकिन इसमें दम क्या है ?

साहित्य क्यों ? इस प्रश्न को पूछने के साथ हम एक ऐसे संदर्भ की कल्पना कर सकते है जहाँ लेखक अपनी सारी जिन्दगी तन्मयता और लगन के साथ साहित्यिक रचना मे गुज़ारने के बाद अपने पूरे कार्यकाल पर वापस मुड कर देखता है, शायद उसने अपने रचना कर्म से अपने से बाहर कुछ निर्मित करने की आशा की थी। परिवेश पर कुछ प्रभाव डालने की, किसी कल्पना लोक का सृजन करने की जिसकी साक्षी और लोग भी दे सकें, समाज या मनुष्यता को बदलने की या कम से कम अपने विषय में लोगों में एक खास तरह का रुझान पैदा करने की। जब सारी ज़िन्दगी के बाद वह इसमें से कुछ भी घटित होता हुआ नहीं देखता—सचमुच या भ्रमवश—तब वह पूछता है, इसमें दम क्या है ? शायद गालिब का प्रश्न इसी मन:स्थिति को व्यक्त करता है—कुछ हृदय की पुकार, कुछ प्रतिरोध की भावना, कुछ अपने कर्म के प्रति गहरी प्रतिबद्धता और कुछ थकान और हताशा। कहा जा सकता है कि बाद मे गालिब को जितना व्यापक आकर्षण मिला वह उनके प्रश्न का पर्याप्त प्रत्युत्तर है और सिद्ध करता है कि ग़ालिब का सवाल कितना भ्रमपूर्ण और क्षणभंगुर था। लेकिन क्या सचमुच ग़ालिब का सवाल इतना स्थूल, इसलिए निरर्थक और क्षणभंगुर है ? क्या इस प्रश्न में एक ऐसा गुण नहीं है जो तमाम रस्मी उत्तरों के बाद भी शान्त नहीं होगा ? रचनाकर्म के पूरे विस्तार में अनुभूत लेकिन अदृश्य हवा की तरह मँडराता रहता है ?

अगर सब उत्तरों के बाद भी यह प्रश्न शेष रह जाता है तो ग़ालिब के लहजे से हम इतना तो सीख ही सकते हैं कि सामान्य और यशोगान वाले उत्तरों से काम नहीं चलेगा। इस प्रश्न को और उस पर उपजी प्रतिक्रिया को सघन, प्रत्यक्ष और तात्कालिक होना पड़ेगा। इसलिए मैं इस प्रश्न को आपके सामने विचारार्थ प्रस्तुत करते समय भरसक सघन संदर्भ को ही निर्मित करने की कोशिश करूँगा। एक अर्थ में यह प्रश्न इतना पुराना और दूरदराज़ का है

कि इसे विस्मृत या उत्तरित मानकर चला जा सकता है। कम से कम आज के रचनाक्रम से इसका कोई खास रिश्ता नहीं दीखता। क्या इसका कोई और अर्थ भी है? जिस अर्थ में यह प्रश्न सिर्फ बीती हुई रचनाओं पर सिंहावलोकन या सिर्फ थकान या मोहभंग से नहीं उपजता बल्कि बीते हुए, वर्तमान और आने वाले सृजनात्मक क्षणों में भी कभी प्रत्यक्ष, कभी परोक्ष गूँजता है? दूसरे शब्दों में क्या यह प्रश्न जीवित सृजन क्रम से जुड़ता है? मैं समझता हूँ कि यह अनुगूँज है। मेरी कोशिश होगी कि उस अनुगूँज के सम्बन्ध में कुछ आनुषंगिक प्रश्न आपके सामने रख दूँ। स्पष्टतः इस प्रश्न के उत्तर में मैं कोई सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं करूँगा। न शायद विषय प्रवर्तक से आप इस तरह की उम्मीद ही करेंगे।

ग़ालिब के शेर के बाद मैं विनयपूर्वक इस सिलसिले में एक व्यक्तिगत बातचीत का उल्लेख करने की इजाजत चाहूँगा। इस लेख को लिखने के पूर्व मैंने आज के रचनारत कवि, जिन्हें अपना मित्र कहने का सौभाग्य मुझे है, श्री सर्वेश्वरदयाल सक्सेना से पूछा कि "साहित्य क्यों?" इस विषय पर उनकी क्या प्रतिक्रिया है? उन्होंने प्रश्न का उत्तर सीधे न देकर एक विडम्बना प्रस्तुत की। उस विडम्बना को उन्होंने कुछ इस तरह परिभाषित किया: उनके अनुसार सवाल यह है कि हम कितने बड़े या छोटे साहित्यिक संदर्भ में इस प्रश्न को पूछते हैं। अगर हमारे सामने साहित्य का इतना विशाल चित्रफलक है जिसमें वाल्मीकि, होमर, कालिदास, शेक्सपीयर, गेटे, टाल्स्टाय इत्यादि सब बड़े भारी काल विस्तार में प्रकाशमान हैं तो प्रश्न का आकार बहुत छोटा या लगभग अनर्गल-सा हो जाता है। मनुष्यता का इस साहित्यिक विस्तार के प्रति व्यवहार इस 'क्यो' का शमन कर देने के लिए काफी होना चाहिए। दूसरी तरफ जब वे आज के विशिष्ट देश-काल में—या और प्रत्यक्ष शब्दों मे इस १९७० के भारतवर्ष में हिन्दी के किसी रचनारत लेखक की ओर या स्वयं अपनी ओर देखते हैं, और साथ ही साथ अपने समूचे समाज की गिरावट, कुल मिलाकर एक मानव-व्यापी असमर्थता, नपुंसकता और इस सबको ढकने के लिए आज के कवच-पर-कवच-पर-कवच धारी मनुष्य को देखते हैं तो इस प्रश्न का आकार बढ़ता जाता है—और लगता है कि प्रश्न सटीक है और शायद आवश्यक भी।

मेरे विचार से सर्वेश्वर जी ने विडम्बना को जिस ढंग से रखा उसमें आज के लेखक के लिए मात्र अपने बिछड़ जाने का सामान्य अनुभव नहीं है जिसका

जवाब आज नहीं तो कल हर लेखक को मिल जाता है। यह विडम्बना भी कुछ ज्यादा प्रखर ढंग से उसी ओर संकेत करती है कि सब उत्तरों के बाद प्रश्न शेष रह जाता है और सृजन कर्म पर दबाव डालता है। साहित्य की एक खास किस्म की उपादेयता, अर्थवत्ता या मूल्यवत्ता जो विशाल चित्र फलक को सहज ही उपलब्ध है—किन कारणों से छोटे और विशिष्ट संदर्भ में घटित नहीं हो पाती ? किन कारणों से और किन अर्थों में वाल्मीकि या कालिदास का साहित्य होना सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की सहायता नहीं कर पाता ? हम सब जानते हैं कि हिटलर के जिन सिपाहियों के जिम्मे बन्दी केन्द्रों में नृशंसता के साथ लोगों की चमड़ी उधेड़ने का काम मिला था, उनमें से बहुतों के बीच शेक्सपीयर बहुत लोकप्रिय था। इसके लिए किसकी प्रशंसा की जाये ? शेक्स-पीयर की ? साहित्य की ? या उन नाज़ी कोतवालों की ? मैं उम्मीद ही कर सकता हूँ कि सर्वेश्वर जी को कभी ऐसी परिस्थितियों में लोकप्रिय होने का बोझ नहीं उठाना पड़ेगा। लेकिन यदि दुर्भाग्य से ऐसा हुआ, तो सर्वेश्वर जी की पुस्तक के बगल में पड़ी हुई शेक्सपीयर की पुस्तक उनकी सहायता कहाँ तक करेगी ? किस अर्थ में करेगी ?

शायद इस ढंग से इस प्रश्न को रखना सिर्फ एक तनाव को पैदा करना है। इसलिए मैं फिर कुछ व्यापक शब्दावली मे प्रश्नों को दोहराने की अनुमति चाहूँगा। यदि परम्परित उत्तर आज के लेखन कर्म के लिए ज्यों के त्यों उप-लब्ध नहीं हैं तो इस प्रतीति के क्या नतीजे आज के लेखन कर्म के लिए निकलते हैं ? यदि हम मान भी लें कि परम्परित उत्तरों से बच कर हम नही जा सकते तो भी उन उत्तरों को हम किस तरह अपने आज के रचना कर्म के लिए जीवन दे सकते हैं ? क्या हम इस टूटी हुई कड़ी को जोड़ सकते हैं ? विशाल चित्रफलक और सृजनशील बेचैन रेखा के बीच जो खाई है वह हमारे लिए किन चुनौतियों का निर्माण करती है ? इस विडम्बना का सामना करने या उससे कतराने का क्या परिणाम है ? क्या हम छलाँग लगा कर इस विडम्बना से बाहर निकल सकते हैं ? प्रश्नों की एक लम्बी कतार एक के बाद एक दिखलायी पड़ती है।

० ० ०

मैं यह स्वीकार करता हूँ कि लेखक के लिए जरूरी नहीं है कि इन तमाम सवालों का जवाब दे। मेरा इरादा इस तरह के उत्तरों की शुरुआत करने का है भी नहीं। उन लोगों के लिए जो आज की गोष्ठी में उपस्थित और रचना-

कर्म में स्वयं प्रवृत्त नहीं हैं, केवल साहित्य के पाठक हैं। मैं सिर्फ उन सीमाओं का संकेत देना चाहता हूँ जो रचना में लगे हुए लेखक के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, ज्यादातर परोक्ष रूप से, लेखन कर्म को घेरती रहती हैं और उस अनवरत तलाश को जन्म देती हैं जिसे हम रचा जाता हुआ साहित्य कहते हैं। और उन सज्जनों के लिए, जो स्वयं रचना में रत हैं और जिनकी ओर से मुझे सिर्फ इसलिए चुना गया है कि विषयप्रवर्तक के रूप में मैं उन अस्पष्ट ध्वनियों को रूपायित कर दूँ जिनसे वे स्वयं अवगत हैं, मैं केवल परिभाषाकार का काम कर रहा हूँ। मैं केवल इतनी आशा कर सकता हूँ कि ये प्रश्न उन्हें अपने अनुभवों और अनुभूतियों को याद दिलायेंगे और उन विचार-शृंखलाओं को झंकृत कर देंगे जिन्हें सुनने के लिए हम आज यहाँ उपस्थित हुए हैं।

० ० ०

इसके पूर्व कि मैं कुछ और पहलुओं की चर्चा करूँ इस विडम्बना से बच निकलने के लिए सिद्धान्ततः दो आसान रास्तों का उल्लेख करूँगा। एक तो यह कि कर्म को ऐसी नैसर्गिक प्रक्रिया के रूप में देखा जाये जिस पर लेखक का वश नहीं है। साहित्य कुछ इस तरह लिखा जाता है जिस तरह बुलबुल गाती है। यहाँ क्यों का प्रश्न अनर्गल है। मैं नहीं समझता कि कोई व्यक्ति आज इस तर्क को गम्भीरतापूर्वक प्रस्तुत करेगा। जिस अर्थ में बुलबुल का गाना नैसर्गिक है, स्पष्टतः लेखक का लेखनकर्म उस अर्थ में नैसर्गिक नहीं है।

दूसरा आसान रास्ता व्यावहारिक है। 'साहित्य क्यों' इस तरह का प्रश्न ऐसे लोगों के बीच उठाने का क्या प्रयोजन है जो इस क्यों का सोचने के पहले ही लेखन-कर्म के प्रति प्रतिबद्ध हो चुके हैं? शायद हर लेखक की जिन्दगी में एक ऐसा समय आता है जब उसे अपने आप से यह प्रश्न पूछना पड़ता है। जब संक्रामक रोग की तरह लगी हुई साहित्यिक कृतित्व की पहली उत्तेजना ढीली पड़ने लगती है। ज्यादातर लोग इसका एक चालू उत्तर दे डालते हैं। लेकिन मैं समझता हूँ कि एक स्तर पर हर गंभीर लेखक के मन में प्रश्न शेष रह ही जाता है। रचना का हर कर्म साथ ही साथ इस प्रश्न से उलझने या इससे कतराने का कर्म भी बनता रहता है। आखिरकार वास्तविकता इतनी ही नहीं है कि लेखक कवि है इसलिए कविता लिखता

है। ज्यादा मूलभूत सत्य यही है कि लेखक कविता लिखता है इसलिए कवि है।

लेकिन व्यावहारिक स्तर पर भी लेखकों का इस तरह किसी गोष्ठी में इकट्ठा होना अपने आप में विचित्र और असंगत स्थिति है, अगर हम यही संकल्प करें कि सृजनशीलता एक ऐसा कर्म है जिसके लिए सहकर्मियों के साथ संवाद की कोई सार्थकता नहीं है। मैं मानकर चलता हूँ कि इस संवाद की सार्थकता है—चाहे वह संवाद आमने-सामने हो या देश-काल के बड़े अन्तराल को पार करके। मगर यह बात ठीक है तो इस संवाद में साहित्य क्यों का प्रश्न अंततः उठेगा ही। इस स्तर पर इस प्रश्न का स्वरूप कुछ इस तरह का होगा : क्या इस संवाद की कोई भूमिका सृजन-कर्म में है ? क्या लेखकों को इस तरह की गोष्ठियों की उपयोगिता है—उस स्पष्ट उपयोगिता के अतिरिक्त प्रचार और मेल-जोल के द्वारा (जो इस तरह की गोष्ठियों में अनिवार्य है) उस माहौल का निर्माण किया जाये कि इस समय कौन ज्यादा, कौन कम प्रतिष्ठित है ?

साहित्य के रचना-कर्म और साहित्य को प्रतिष्ठित करने की प्रक्रियाओं को लेकर भी बहस उठायी गयी है। जैसे वे दोनों परस्पर विरोधी और एक दूसरे को विध्वंस करने वाली प्रक्रियाएँ हों। इस पहलू पर भी कुछ बातें कहना चाहूँगा। समाज में साहित्य को प्रतिष्ठादान करने वाली मशीनरी—गोष्ठियाँ, विश्वविद्यालय, प्रचार, पुरस्कार, सम्मान, अभिनंदन—संक्षेप में वह सब जिसे प्रतिष्ठान का नाम दिया जाता है (और जिसमें विद्रोह का प्रतिष्ठान भी शामिल है) ये सब साहित्य के अनिवार्य सम्बन्धी हैं। यह प्रतिष्ठादानी मशीनरी भी साहित्य क्यों का उत्तर देने का प्रयास है। प्रतिष्ठान का बड़ा हिस्सा साहित्य के उस विराट् चित्रफलक से ही अपनी सार्थकता ग्रहण करता है जिसका जिक्र मैंने पहले किया। लेकिन अक्सर यह प्रतिष्ठान उस बैचेन रेखा के साथ जो विडम्बना का दूसरा छोर है उत्पात करता है। क्या यह संभव है या क्या यह वांछनीय है कि इस प्रतिष्ठादानी मशीनरी को ध्वस्त कर दिया जाये ?

लगभग दो दशक पहले इंग्लैण्ड में साहित्य के सन्दर्भ में प्रतिष्ठान का अलग से नामकरण किया गया और सृजनशील-कर्म या लेखक की निजी अनुभूति की परिभाषा कुछ इस तरह की गयी कि प्रतिष्ठान मात्र का विध्वंस साहित्य के अस्तित्व से जुड़ा हुआ है। आज भी हम उस प्रतिष्ठान-

विरोध की कुछ धमक सुन सकते हैं। क्या यह संभव या वांछनीय है कि प्रतिष्ठा-दानी मशीनरी को ध्वस्त कर किया जाये ? मुझे सम्भावना और वांछनीयता दोनों में ही संदेह है। मैं कल्पना करता हूँ कि अगर किसी जादू से समाज की प्रतिष्ठादानी मशीनरी बिलकुल खत्म हो जाये—पुरस्कार, गोष्ठियाँ, पत्र-पत्रिकाएँ, विश्वविद्यालय सब हों, लेकिन ये सब साहित्य के प्रति चुप्पी साध लें—तो क्या कुछ ही दिनों में ये तमाम लेखक मिल कर इस प्रतिष्ठा-दानी मशीनरी को फिर से निर्मित नहीं कर डालेंगे ? योरप के लेखक का जो भी अनुभव हो और उसके नारे का जो भी मतलब हो—लेकिन भारतवर्ष की भाषाओं में पिछले सौ या अधिक वर्षों से क्या हम इस प्रतिष्ठान के निर्माण में लेखकों को रत नहीं देखते ?

समूचा साहित्य जन्म लेते ही प्रतिष्ठान की विकराल दाढ़ों में समाने लगता है। प्रष्ठिान की दाढ़ों की चक्की बहुत सटीक या पूरी विचक्षणता के साथ नहीं चलती। इसीलिए बहुत कुछ बाहर गिर जाता है या जो कुछ भी पिस कर, चिकना होकर मानवता की धरोहर के रूप में प्रतिष्ठान से हमें मिलता है उसे में बहुत-सा हमारे लिए स्वीकार्य भी नहीं होता। लेकिन केवल इसी आधार पर साहित्यिक सृजन और प्रतिष्ठान के दो विपरीत और परस्पर विरोधी ध्रुवों की कल्पना कर लेना प्रतिष्ठान की प्रकृति को गलत समझना है। इससे भी आगे साहित्य की प्रकृति पर एक झूठा नकाब डालने की कोशिश है। हम ऐसे प्रतिष्ठान की कल्पना कर सकते हैं जो सौ फ़ीसदी अचूक और विचक्षण हो। चुनाव में न सही तो इसमें कि जो कुछ भी चुनाव से छूट जाये उसका नितान्त विनाश प्रतिष्ठान कर दे और जो कुछ भी चुना जाये उसे अस्वीकृत करने वाले संशय का भी विनाश कर दे। इस तरह का प्रतिष्ठान शायद अनंतकाल तक अपनी सत्ता की गारंटी तो नहीं दे सकता लेकिन इतना तो किया ही जा सकता है कि प्रतिष्ठान का संशोधन प्रतिष्ठान के अंगों के अतिरिक्त और किसी प्रतिष्ठान-विरोध से संभव न हो। इस शताब्दी का ही मानवीय इतिहास इसके उदाहरण प्रस्तुत कर चुका है। साहित्यहीन प्रतिष्ठान की कल्पना तो की जा सकती है लेकिन प्रतिष्ठाहीन साहित्य की कल्पना असंभव है।

साहित्यिक परिवेश में बहुत-सी धूल, गर्द, गुबार, दिलों का टूटना, गद्दारी और बेइमानी की शिकायत—विद्रोह, फिर विद्रोह के प्रति विद्रोह, तेज, ईमानदार गुस्सा और फिर उस ईमानदार गुस्से का पाखंड की शक्ल

अख़्तियार कर लेना,—यह सब साहित्य और प्रतिष्ठान के रिश्ते को गलत ढग से प्रस्तुत करने का परिणाम है। असली समस्या इस रिश्ते को ख़त्म कर देने की नहीं है बल्कि प्रतिष्ठान को कुछ ज्यादा लचीला, विविध और जिम्मेदार बनाने की है। सिद्धान्ततः अचूक कहे जाने वाले प्रतिष्ठान के मुकाबले में मैं ऐसे प्रतिष्ठान को पसंद करूँगा जो चूक की संभावना को स्वीकार करके चले और इस जागरूकता के साथ उसमें विविधता और लोच हो। उस लोच और विविधता की क्या शर्तें होंगी – जैसे ही हम इस पर विचार करेंगे हमें 'साहित्य क्यों' इस प्रश्न से उलझना पड़ेगा।

पिछले २०-२५ वर्षों में भारतीय साहित्य में शायद सबसे ज्यादा विप्लवी चेतना 'विश्व साहित्य' जैसी धारणा की चेतना रही है। मेरी यह क्षमता तो नहीं है कि मैं आपके समक्ष भारत की सभी भाषाओं के साहित्य के बारे में कुछ कह सकूँ। मुझ से आशा यही की जायेगी कि मैं अपने नतीजे हिंदी के अनुभव से ही निकालूँगा। लेकिन आदरपूर्वक इतना निवेदन अवश्य करना चाहूँगा कि जो कुछ भी थोड़ी जानकारी मुझे है, 'विश्व साहित्य' की अवधारणा की चेतना ने सभी जगह एक विशिष्ट प्रेरकशक्ति की भूमिका अदा की है।

इस चेतना के प्रभावी होने का ढंग क्या रहा है ? बीस-पच्चीस वर्षों की सीमा लगाने का तात्पर्य क्या है ? 'विश्व साहित्य' की चेतना भारतवर्ष में आजादी के पहले भी विद्यमान और सक्रिय थी। लेकिन मुख्यतः इस चेतना का स्वरूप महान् उपलब्धियों की चेतना का था। इसके केन्द्र में थीं यूरोपीय सभ्यता या संस्कृति की महान् प्रतिष्ठित विभूतियाँ। यह यूरोपीय सभ्यता या संस्कृति फलतः एक पूर्ण निर्मित वस्तु थी, एक ऐसी तस्वीर जिसके सारे रंग भरे जा चुके थे और जो उस समय की स्थायी और असुविधाजनक दुनिया पर एक खासतौर की रोशनी फेंकती थी। बीसवीं सदी के तीसरे और चौथे दशक वाले भारतीय मानस के लिए यूरोप के प्रकाश स्तम्भ मुख्यतः पूर्ण निर्मित और समूचे अर्थों वाले, पूरी तरह अवतरित प्रकाश स्तंभ थे—ऐसे आदर्श जिन्हें या तो स्वीकार किया जा सकता था या जिन्हें अस्वीकृत किया जा सकता था। ये ही दो विकल्प थे। इन आदर्शों के प्रतिरोधी लगभग उसी तरह प्राचीन भारत के प्रकाश स्तम्भ थे जो उतने ही दूर, अलग-थलग, अपने आप में सम्पूर्ण – पूरी तरह बाहर अवतरित प्रकाश स्तम्भ थे, जो अतीत की स्वतः पर्याप्त सभ्यता के प्रतीक थे—दूसरे शब्दों में आदर्श थे। भारतवर्ष का

सर्जनात्मक मानस 'विश्व साहित्य' के दबाव को महसूस करता है—लेकिन आदर्शों की तरह। एक आदर्श का विकल्प दूसरा आदर्श है।

दूसरे महायुद्ध के बाद की परिस्थिति ने, जो भारतवर्ष के लिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की स्थिति भी है, इस तस्वीर को बदल दिया। युद्धोत्तर परिस्थिति गोरी सभ्यता को एक पूर्णतः निर्मित वस्तु की तरह नहीं, बल्कि एक ऐसी वस्तु की तरह प्रस्तुत करती है जिसमें ठहराव नहीं है। उसमें निरंतर ऐसे परिवर्तन हैं जिनकी कल्पना भी पहले नहीं की गयी थी। इस बदली हुई या बदलती हुई परिस्थिति में चेतना पर 'विश्व साहित्य' की अवधारणा का दबाव विप्लवी बनकर पड़ता है—समसामयिक, निरन्तर बदलता हुआ—कुछ ऐसा जो खास अर्थों में बीसवीं शताब्दी के नाम से अभिहित किया जाता है। इस बीसवीं सदी को एक सर्वमान्य नामकरण की तरह महसूस किया गया—उस समस्त संपुंज के लिए जिसमें तूफान और भूकंप हैं, विज्ञान और यांत्रिकी की चुनौतियाँ हैं, समाज को आमूल बदल डालने के निमित्त प्रयोग हैं, औसत आदमी की जिंदगी को नये सिरे से ढालने के सपने हैं, बड़े पैमाने पर उत्पादन है, महानगर हैं, निरन्तर उठते हुए जीवन-स्तर है—और इस अभियान के बीच व्यक्ति के निजी, परम्परित या भावुक विश्वासों के लिए कोई जगह नहीं है। संक्षेप में 'विश्व साहित्य' की इस चेतना ने 'आधुनिक' या 'समसामयिक' की मुद्रा ग्रहण कर ली जिससे हम सब परिचित हैं और साहित्य बीसवीं शताब्दी की तीर्थयात्रा पर निकल पड़ा।

आज हम उस समय मिल रहे हैं जब इस तीर्थ-यात्रा के पहले उत्साह को बीते हुए काफ़ी कुछ अरसा गुजर गया है। बीसवीं शताब्दी ढल रही है। इसका अवसर आ गया है कि हम थोड़ा तटस्थ हो कर देखें—क्या इस सारे कुहराम में कोई अर्थ रहा है ? इतिहास की इस कभी उत्तेजित, कभी हताश गति में क्या कोई ऐसी रूपरेखा रही है, जो याद किये जाने के योग्य हो ? शीघ्र ही, शायद हम में से बहुतों की जिन्दगी में, इक्कीसवीं शताब्दी की शुरुआत होते ही यह बीसवीं शताब्दी उस सबके लिए पर्याय बन जायेगी जो खत्म हो चुका है, मर चुका है—हमेशा के लिए दूर जा चुका है, उस समय यह बीसवीं शताब्दी कैसी दीखेगी ?

अलग-अलग दिशाओं में खिचती हुई यह चरमराती हुई कोशिशें, यह गति और प्रति गति, बढ़ते हुए पानी के ऊपर मुँह निकाले रहने की छटपटाहट, मनुष्य को मानवीय बनाने की असंभावना और साथ-साथ व्यापक सृजनशील

कर्म में अवसन्न आस्था—साहित्यिक सृजन के ये सारे संदर्भ किस तरह दीखेंगे ? क्या इतिहास में हमें क्रांति के मोह में पड़ी हुई शताब्दी की तरह याद किया जायेगा—जिस तरह आज हम उन्नीसवीं शताब्दी को प्रगति के मोह से आविष्ट शताब्दी के नाम से पुकारते हैं ? क्या साहित्य ढलती हुई बीसवीं शताब्दी के मन में गहरे घुमड़ने वाले इन बेचैन और विप्लवी प्रश्नों की अनुभूति कराने में सक्षम है ?

बीसवीं शताब्दी ढल रही है, मैंने उस संदर्भ को प्रस्तुत करने की कोशिश की है जिसमें आज साहित्य रचा जा रहा है और जिसके साथ रिश्ता जोड़कर साहित्य को अर्थवत्ता देने की कोशिशें हो रही हैं। बहुत-सा बदलाव, उलट-फेर इस छटपटाहट से उपजा है। इस संदर्भ में ही 'साहित्य क्यों' का दबाव हमारी सृजनशीलता पर पड़ता है। 'बीसवीं शताब्दी' की अवधारणा ने इस चेतना को जन्म दिया कि बड़े पैमाने पर साहित्य विश्व स्तर पर सभ्यता और संस्कृति से उलझने का प्रयास है। इसी से 'विश्व साहित्य' की कभी धुँधली, कभी अस्पष्ट तस्वीर का निर्माण होता है। यह मान्यता काफी हद तक बीस-पच्चीस वर्षों में अंतर्निहित रही है कि विश्वसभ्यता या संस्कृति के इस अभियान की सृजनशील जिम्मेदारी की दिशा तय हो चुकी है। साहित्य के लिए प्रश्न इतना ही है कि उस जिम्मेदारी को किस तरह की उन्मुक्तता स्वीकार करती है और किस तरह की उन्मुक्तता उससे कतराती है।

जिस तरह की विडंबना का जिक्र सर्वेश्वर जी ने किया, या प्रतिष्ठान और प्रतिष्ठान-विरोध के नारों में जिस गर्दोगुबारवाली उत्तेजना का दर्शन हमें होता है, वे सब इस परिस्थिति के उदाहरण हैं कि हमारे लिए साहित्यिक संदर्भ की बीसवीं शताब्दीवाली बनी बनायी मान्यता को स्वीकार करके चलना निरंतर कठिन होता जा रहा है, मैंने शुरू में जो तार्किक बहस उठायी उसका उद्देश्य केवल इतना ही था कि इस कठिनाई के एहसास को अवरुद्ध करने वाले जो भी तार्किक गुञ्जलक हमने अपनी कल्पना के चारों ओर लपेट लिये हैं उनसे बाहर निकल आने का रास्ता साफ़ हो और हम इस ढलती हुई बीसवीं शताब्दी के यथार्थ को उसके मोहक आवरणों से थोड़ा अलग करके देख सकें।

स्वप्नदर्शी मन जब सपने देखते-देखते रुक जाता है और उन सपनों को कहीं साकार होते नहीं पाता तो एक खतरनाक पाखंड में पड़ता है—वह पाखंड यथार्थ के किसी उदाहरण को जल्दी से स्वप्न का साकार रूप मान लेने

का, ताकि अपने को स्वप्न की सार्थकता का आश्वासन दे सके, या फिर बहुत कड़ुवाहट और तेजी के साथ उन स्वप्नों पर आक्रमण शुरू करता है। इस आक्रमण की शक्ल चीखती हुई मूल्यहीनता, अर्थहीनता और बड़बड़ाहट की होती है। दोनों ही शक्लें उस घबराये हुए जिद्दी मन की हैं जो स्वप्न और यथार्थ की दुर्लंघ्य खाई को तो देखता है लेकिन उन आधारभूत मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाना चाहता जिनके कारण इस खाई का निर्माण हुआ है।

बीसवीं शताब्दी के बहुत से अंतर्विरोधों में से एक का उल्लेख उदाहरण के लिए काफ़ी है। हमने बीसवीं सदी को मूलतः यांत्रिकी और वैज्ञानिक उन्नति, विपुल उत्पादन और निरंतर विकासमान जीवन स्तर के रूप में प्रतिबिंबित किया। इस प्रतिबिंब में एक स्वप्नलोक जैसा गुण है। यथार्थ और स्वप्न के इस मिले जुले रूपाकार को ही हमने बीसवीं शताब्दी का नाम दिया काल के भीतर से विकसित होते हुए इस स्वप्न ने ही दैत्य की तरह दुनिया को गति दी या गतिहीनता पर कोड़े लगाये। यह प्रतिबिंब ही सारी दुनिया पर एक इकाई होने का ठप्पा लगाता है। उम्मीद की गयी कि साहित्य अपनी विविध आवाजों के साथ इस आधारभूत परिभाषा के साथ सामंजस्य स्थापित करेगा। लेकिन बीसवीं शताब्दी ने परिभाषा के इस दर्पण में अपनी जो छाया देखी — उसमें साहित्य या साहित्यिक सृजनशीलता का कोई समावेश है ही नहीं। अगर छाया सचमुच ऐसी ही है तो अब तक साहित्य को चुप हो जाना चाहिए था। साहित्य निर्मित होता रहा है, यह इसका प्रमाण है कि साहित्य ने मानव सभ्यता से उलझने के अपने दावों के बावजूद या तो दोयम दर्जे की भूमिका स्वीकार कर ली या फिर दर्पण में दिखती छाया सही नहीं है। इस शताब्दी के आरंभ में स्पेंगलर ने जो छाया देखी थी उसमें साहित्य अनुपस्थित था। स्पेंगलर द्वारा दी हुई परिभाषा स्वीकार कर ली गयी लेकिन उसके परिणामों को नहीं स्वीकार किया गया—यही अंतर्विरोध है। इसी अंतर्विरोध से छुटकारा पाने के लिए साहित्य ने इस शताब्दी में विश्वस्तर पर अपने को नये रूपों में ढालने की कोशिश की है—क्या इस अंतर्विरोध से छुटकारा सचमुच मिल गया ? जिस युगबोध को बारंबार ध्वनित करने की कोशिशें की गयी—वह सब रह-रह कर बीमार आदमी के करवटें बदलने की तरह क्यों लगता है ?

क्या इस आधारभूत मान्यता पर प्रश्नचिह्न लगाने का अवसर आ गया

हममें से अधिकांशतः जो बीसवीं शताब्दी की इस छाया के निर्माता कम है, उत्साहित दर्शक अधिक रहे हैं, अक्सर इस बेचैनी को महसूस करते रहे ौर तमाम विप्लवी प्रभावों के बावजूद इस बेचैनी के लक्षण भारतीय हित्य में दीखते रहे हैं। अक्सर इस बेचैनी की रूपरेखा हमारे सामने स्पष्ट रही है और उसने आधारभूत प्रश्न का स्वरूप तो बड़े पैमाने पर शायद लिया। संशय की धुँधली आवाजें जरूर आती हैं। जिस रूप में—मानव-यता के जिस स्वप्न के रूप में—यह बीसवीं शताब्दी हमारे लिए संदर्भ तुत करती रही है—क्या वह सचमुच हमारा वास्तविक संदर्भ है—या र्फ एक मायालोक है जो हमें थोड़ा आविष्ट और थोड़ा हताश छोड ता है ? इस विडम्बना के भीतर से हमारी पर्याप्त प्रतिक्रिया की आवाज है ?

विषय प्रवर्त्तन के लिए लिखे गये लेख की सीमा होती है। जैसा मैंने पहले निवेदन किया, मेरा काम संदर्भ को उजाकर करने भर का है। कोई द्धांत या मतवाद प्रस्तुत करने का नहीं। आज की तमाम साहित्यिक चीख ार, आंदोलन, टकराहट, गिरोह-बंदियों, घोषणापत्रों की सतह के नीचे र मैं किसी हद तक उस गहरे अतल की ओर आपको उन्मुख कर सका हूँ, र आप महानुभावों को इस विचार-विमर्श में योगदान देने के लिए भी प्रेरित कर सका हूँ तो मैं अपने काम को पूरा समझूँगा। मेरे लिए ना काफी होगा यदि मैं आपके सम्मुख स्पष्ट कर सका हूँ कि जिन मान्य-ओं के ऊपर हम खड़े हैं उन पर फिर एक बार प्रश्नवाचक दृष्टि डालने की रत है। अंत में कवि सर्वेश्वर के ही कुछ शब्दों को उद्धृत करके मैं अपने विषय प्रवर्त्तन को समाप्त करने की इजाज़त चाहूँगा।

पाँव रखते ही
बाँस का पुल चरमराता डोलता है
कहीं नीचे बहुत गहरे
अतल खाईं है

———

हमारा समय[1]

वाजपेयी जी और उपस्थित देवियों और सज्जनो ! जब मैं इलाहाबाद से चला तो उसके पूर्व मुझे वाजपेयी जी का एक संक्षिप्त-सा पत्र मिला था कि **हमारा समय**—उस सम्बन्ध मे मुझसे कुछ कहने की अपेक्षा की जायेगी। तो पहले तो मेरे मन में यही आया कि शायद **हमारा समय** का तात्पर्य यह है कि यह जो **एमरजेन्सी** खत्म हुई और उसके बाद **जनता पार्टी** का काम-धाम शुरू हुआ इस पर अब इस समय के बारे में मेरी क्या राय है या लेखक के रूप मे मेरी क्या राय होनी चाहिए या लेखक—कर्त्तव्य हमारा किस प्रकार निर्धारित होना चाहिए इसकी चर्चा है। लेकिन आज दिन में बात करते समय यह लगा कि उद्देश्य इतना सीमित नहीं है तो कुछ प्रसन्नता ही हुई। अपने समय को निर्धारित करने का एक स्वरूप तो यह भी हो सकता है, जैसा **रामचरित-मानस** में है—कि **रामचरितमानस** पढ़िये आप तो आप को लगेगा कि **तुलसीदास** के लिए जो हमारा समय है उस हमारे समय का नाम है **कलियुग**। जो सम्पूर्ण समय को चार हिस्सों में उन्होंने बाँट दिया—**सतयुग** था **त्रेता** था, **द्वापर** था और अब तुलसीदास का जो हमारा समय है वह है **कलियुग**। तो **कलियुग** की अगर परिभाषा ले तो वह न जाने कितने लाखो बरस से है और लाखों बरस तक अभी चलेगा। तो बीच में कोई विशेष अन्तर पड़ा नही क्योंकि उसके लिहाज से तो मेरा समय भी वही है जो तुलसीदास का था क्योंकि कलियुग तो अभी भी चल रहा है। लेकिन हम लोग जो आजकल चर्चा करते हैं तो अपना संदर्भ इस प्रकार का नहीं रह गया और हम लोग कुछ इस प्रकार समझते हैं कि एक सीमित अर्थ में हमारे चारों तरफ के माहौल में हमारे समाज के वातावरण में, चरित्रगत अभिव्यक्तियों में कुछ परिवर्तन होते हैं और इन परिवर्तनों के आधार पर हम कहते हैं कि यह हमारे समय की चीजें हैं, यह हमारे पहले वाले समय की चीज़ें हैं। इसलिए

---

1. मध्यप्रदेश कला-परिषद् द्वारा आयोजित 'अरविन्द सेमिनार' में व्याख्यान भोपाल, 16 मई 1978।

कुछ इस तरह की कल्पना बनती जा रही है, मेरा समय वह नहीं है जो मेरे बाप का समय था या मेरे दादा का समय था। बहुत थोड़ा अगर फैलाऊँगा तो शायद मेरे पिता का समय शायद इतना एक समय में आ जाये। लेकिन मेरे पितामह का समय तो निश्चय ही मेरा समय नहीं है। कुछ इस प्रकार से हम लोग जो सोचते हैं तो इसका कोई रिश्ता हमारे लेखन से बनता है, एक सीमित अर्थ में तो जरूर इसका रिश्ता बनता है। और वो रिश्ता इसी अर्थ में बनता है कि हम यह मानकर चलते है कि चारों तरफ़ का हमारा जो समाज है वह एक विशेष प्रकार से आंदोलित हो रहा है और हम कोशिश करते हैं कि इस विशेष प्रकार से आंदोलित होने की जो धड़कन है उस धड़कन को महसूस करें और उससे अपने अनुभवों की धड़कनों का कुछ साक्षात्कार करें और तब उसके आधार पर कुछ कविता या उपन्यास या कहानी या किसी भी रूप में अपने को व्यक्त करना चाहें तो उस साक्षात्कार के आधार पर अपने को व्यक्त करें। अगर यह बात कोई अर्थ रखती है अपने समय से अपने को जोड़ना, तो यह समय का अर्थ मेरे और मेरे समूचे वातावरण से ही और इस वातावरण को नित-नित परिवर्तित देखने से ही लगता है। मैं जरूर यह महसूस करता हूँ कि मेरे लिए कविता लिखते समय भी, सोचते समय भी यह एक आवश्यक दिशा या एक आवश्यक आयाम जरूर रहता है कि जो कुछ भी महसूस कर रहा हूँ इसका साक्षात्कार हमारे चारों तरफ के आन्दोलित पर्यावरण से कैसा है। लेकिन मैं अपने चारों तरफ़ के पर्यावरण को या वातावरण को या माहौल को सिर्फ समाज में रोज दिन-ब-दिन होने वाले, स्पष्टतः अखबारों में छपने वाले मात्र इतने ही आन्दोलन से परिभाषित नहीं करता। इसलिए मेरे दिमाग में यह सवाल जरूर उठता है कि यह पर्यावरण या यह वातावरण जिसका दबाव मेरे ऊपर पड़ रहा है इसकी मूल धड़कन क्या है। इसको यहीं छोड़ दें और एक दूसरे ढंग से भी कुछ कहूँ।

उदाहरण के लिए अगर मैं कहूँ कि हिन्दुस्तान का समाज या हिन्दुस्तान के वातावरण में तब्दीली हो रही है तो एक बात मन में यह भी आ सकती है कि यह तब्दीली बेकार है, केवल लहरों के उठने-गिरने की तरह है, इसमें कोई गति नहीं है। एक मंत्री आता है, दूसरा मंत्री जाता है कोई फर्क नहीं पड़ता। एक सरकार आती है दूसरी सरकार जाती है कोई फर्क नहीं पड़ता, जैसे समुद्र में एक लहर उठती है नीचे गिरती है; फिर उठती है नीचे गिरती है, लेकिन पानी कहीं नहीं जाता। वह पानी वहीं ऊपर-नीचे होता रहता है।

तो क्या हम कुछ इस प्रकार के समाज में रह रहे है कि जिसमें यह सब एक निरर्थक गति है ? अब अगर फिर मैं तुलसीदास के समये की ओर जाऊँगा तो उनके चारो तरफ भी बहुत-सी घटनाएँ घटित हो रही थीं। उस समय के भी विचारक उस समय के भी कवि थे और अच्छे-अच्छे द्रष्टा थे। राज बनते थे उलटते थे। एक भाई ने दूसरे भाई को मार डाला गद्दी पर बैठ गया। आज यहाँ पर एक राजा है, कल दूसरा राजा आया, उसने भगा दिया उसको। सत्तायें पलटती थीं राज्य पलटते थे, लेकिन उस समय का दृष्टि रखने वाला आदमी कहता था यह सब झूठी बातें है इसका जीवन की वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नही है, यह सब तो होता ही रहता है और राजा रंक होते हैं, रक राजा होते हैं। यह तो कालगति है चलती रहती है, लेकिन इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। तो क्या वैसे ही हम आज भी हैं ? ऐसा ही हमारा समय है ? जब हम इस तरह सोचते है तो लगता है कि भीतर से हमारी जो दृष्टि है और बाहर जो कुछ पर्यावरण है यह दोनों किसी एक बिन्दु पर मिलेंगे, तभी जो कुछ भी हम नतीजा निकालेंगे, निकालें। क्योंकि हमारी अन्तर्दृष्टि ही हमको बतायेगी कि यह जो लहर चल रही है उठ रही है इसका आशय क्या है, तात्पर्य क्या है या कोई आशय है भी इसका क्या ? और जब आशय को हम तलाश करने लगते हैं तो अपनी स्मृतियाँ, अपने अनुभव यह सब दिमाग में आने लगते हैं, उसी के आधार पर हम आशय निकालते हैं लेकिन आशय निकालने की कोशिश जरूर करेंगे। यह भी अगर करें कि हम आशय कोई नहीं निकाल सकते और सचमुच वैसा ही है जैसा कि पहले के लोगों ने कहा कि राजा आते हैं, उठते हैं, गिरते हैं, सिपाही आते हैं गाँव लूट ले जाते हैं फिर दूसरे लोग आते हैं फिर नये सिरे से खेती करते हैं, फिर नये सिरे से गाँव बसता है, फिर अकाल आता है, फिर गाँव नष्ट हो जाता है, शहर नष्ट हो जाता है, नया शहर बस जाता है, यह उज्जैनी नष्ट हो गया, यह कपिलवस्तु नष्ट हो गया, यह पाटलीपुत्र नष्ट हो गया, फिर एक नया उज्जैनी बन गया, फिर एक नया पाटलीपुत्र बन गया और यह उठा-पटक तो होती ही रहती है इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। लेकिन अगर हम इस दृष्टि को भी आज रखना चाहें तो हमको सवालों का जवाब देना पड़ेगा। जब हम उन सवालों का जवाब देने की कोशिश करेंगे तो चाहे मेरा उत्तर वही हो जो तुलसीदास का है लेकिन मेरी अनुभव-शैली, उसकी धड़कन की शक्ल बदल जाएगी, जैसे हमने अपने देश के बारे में, मान लीजिए इस तरह की तस्वीर रखी और आज भी हम आप से कहें कि सामान्यतः तो यही लगता है कि चाहे ये मंत्री बनें, चाहे

वो मंत्री बने, चाहे ये मुख्यमंत्री बने, चाहे वो मुख्यमंत्री बने, कोई फर्क नही पडने वाला। अगर यह वाक्य मैं इस समय कहूँ और आप से कहूँ कि आप मे से सबका अनुभव यह है तो शायद यहाँ बैठे हुए नब्बे फीसदी लोग यह कहेंगे कि हाँ साहब बिल्कुल ऐसा ही लगता है, इससे एक कदम आगे जाएँ तो फिर दूसरा कदम उठावेंगे कि फिर वही ठीक है जो पहले के वैरागियों ने कहा था, कि कुछ अन्तर इससे पड़ता नहीं, लेकिन इतना कह देने से जैसा मैंने कहा कि एक दूसरी बात दिमाग में आती है। चारों तरफ हमको बताया जाता है कि नही, अमरीका में फ़र्क़ पड़ गया। रूस में फ़र्क़ पड़ गया, पश्चिमी योरप में फर्क पड़ गया, वहाँ बहुत-सी ऐसी चीजें हो गई जो आज से तीन सौ वर्ष पहले नही थीं और आज जब हम यह बात कहते है कि कोई फ़र्क़ नहीं पडता मंत्रियो के बदलने से, तो इस अर्थ में नहीं कहते जिस अर्थ में तुलसीदास ने कहा : कुछ लोगों का आशय यह भी जुड़ता है कि वैसा फ़र्क़ क्यों नहीं पड़ता ? कि भोपाल न्यूयार्क क्यों नहीं हो जाता। साल भर हो गया जनता पार्टी को आये अब तक भोपाल न्यूयार्क जैसा नहीं हुआ। किसी न किसी दिन न्यूयार्क जैसा हो जाना चाहिए। किसी-न-किसी दिन मास्को जैसा हो जाना चाहिए। और चूँकि यह नही हुआ इस अनुपात में हम देखते हैं तो कहते हैं ओ हो भोपाल नही हुआ ये तो कुछ नहीं बदला क्या हुआ राज बदलने से? तो जब हम कहते हैं कि कुछ नही बदला तो तुलसीदास के अर्थ में नहीं कह रहे हैं। हम समझते है कि इसको, भारतवर्ष को बदलकर के अमरीका जैसा हो जाना चाहिए, रूस जैसा हो जाना चाहिए, इंग्लैण्ड या फ्रांस जैसा हो जाना चाहिए, क्योंकि हमने यह माना कि समय की गति वह है, न कि, यह है। बीसवीं शताब्दी में वह आदमी पहुँच गया चन्द्रमा पर। हम तो यहीं बैठे हैं बैलगाडी पर। अत: हमारे अन्दर कोई अन्तर नहीं है। यद्यपि अन्तर सम्भव है, परिवर्तन सम्भव है और परिवर्तन की यह गति सम्भव है। उस गति की सम्भावना हमारे सामने है जबकि तुलसीदास की दृष्टि में गति की सम्भावना है ही नही। हमारे सामने कुछ विचार ऐसे आते हैं, जरूरी नहीं है कि मेरे ही विचार हो। ऐसा दबाव पड़ता है कि अन्यत्र गति है यहाँ गतिहीनता है इसलिए जब हम इसको गतिहीन कहते हैं, तो इस अर्थ में नहीं कि जीवन की वृत्ति ही गतिहीनता की है, बल्कि खीझकर, गुस्सा होकर और मन में जीवन का अर्थ गतिमयता मानकर ही इसको गतिहीन कहते हैं। अब इसके बाद जब हम कहेंगे कि जीवन गतिहीन है तो या तो उसका उत्तर दें हम, या मेरे वाक्य में, मेरी शब्दावली में- मेरे काव्य में मेरी कहानी में इसका कोई अर्थ निकलना चाहिए

कि वह बात जो कही जा रही है और ये जो अनुभव है इन दोनों में साम्य बैठा के ही हम कहेंगे, कि हाँ जीवन मे गति है और यह गति हमारे अनुभव को इस तरह बदलती है। और या हम कहें कि जीवन में इस सबके बावजूद वहाँ भी जो गति है वह बेकार है। और तब हम एक नये सिरे से जीवन को परिभाषित करेंगे। चाहे हम गति की बात करें, चाहे गतिहीनता की। तो मैंने इसलिए कहा कि परिणाम चाहे जो निकले, मूल्यों का वास्तविक लुब्बे-लुबाब हम चाहे जो रखें, लेकिन सन्दर्भ हमारे भिन्न हैं और उस सन्दर्भ के अनुसार जब हम टकराते हैं तब हमारे लिये अनुभव की प्रकृति, कविता की प्रकृति, साहित्य की प्रकृति मे कुछ बातें नयी कहने की—नयी न कहें—पुरानी ही, लेकिन उसका मुहावरा बदलने की जरूरत पड जाती है। पूर्णता, हमारे वक्तव्य की तभी होगी जब हम इसको भी लें कि चारों तरफ़ हमारे इस प्रकार का भी एक दबाव है। तो या तो मैं यह कहूँ कि वहाँ परिवर्तन हो गया सो हो गया अब बाकी दुनिया में नही होने वाला; और अब परिवर्तन की दिशा अगर कोई होगी भी तो कोई दूसरी होगी वह वाली नहीं होगी। हम चाहे जितना प्रयास करें अब हम अमेरिका जैसे नहीं हो सकते, हमको कोई दूसरा रास्ता अख्तियार करना पड़ेगा। तब हम गति दूसरे प्रकार की लायेंगे। एक तो यह प्रभाव पड़ गया है और दूसरे मूल्यों को लेकर के भी। वह भी एक अन्तर्वर्ती ही वस्तु है। मूल्यों की भी उद्भावना भीतर से ही निकलती है। कहा जाता है कि मूल्य शाश्वत है, सोचने पर लगता भी है कि कुछ मूल्य तो निश्चय ही शाश्वत हैं, हमेशा है कि जैसे कोई मुझसे कहे कि मनुष्य जब अपने को दूसरे के प्रेम में बाँधकर के स्वयं को उत्सर्जित करता है तो उसके अन्दर एक प्रकार की उज्ज्वलता पैदा होती है। यह बात कालिदास मे भी मिल जायगी, यह बात रामायण में भी मिल जायेगी, यह बात महाभारत में भी मिल जायेगी यह बात आज भी मिलेगी चाहे घुमाकर कही जाय बात, चाहे सीधे कही जाये। चाहे बारम्बार उस उज्ज्वलता की तलाश में उपन्यास-कार यही दिखाये कि हर बार कालिमा ही मिलती है लेकिन उस कालिमा को भी जब वह दिखायेगा तो उस कालिमा का अस्तित्व भी उसी अर्थ मे दीखेगा कि वस्तुतः यहाँ उज्ज्वलता होनी चाहिए थी, न जाने क्यों या न जाने किस प्रकार या सचमुच ही इस कारण यहाँ पर कालिमा का संघर्ष आया। कह सकते हैं कि हमेशा रहेगा, शायद कुछ विचारकों ने कहा है, कि मानवीय मूल्य सचमुच उँगली पर गिनने लायक चार ही छह- दस पाँच होते हैं इससे ज्यादा नही सम्भव है बड-बड लोगो ने जब गिनती गिनना शुरू किया कि

क्या करो और क्या न करो, तो दस पाँच के बाद गिनती ख़त्म हो गयी और बुद्ध में भी ऐसा ही है, गीता में भी ऐसा ही है, बहुत ज्यादा मानव, मूल्यों की गिनती नहीं है, शायद गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो बहुत थोड़े से हैं। उनमें से भी एक दो भी अगर हम अवगाहित कर लें तो लगता है काफ़ी हैं इतना कह देने के लिए। बहुत से मूल्य होंगे उसमें से सत्य है अहिंसा है। दो को पकड़ लिया गाँधी जी ने तो बाक़ी सब उसी में से निकलते चले गये। इस अर्थ में आप कह सकते है कि मानव-मूल्यों में एक शाश्वतता है। मगर यह सही है कि यह शाश्वतता जब रूप ग्रहण करती है आकार ग्रहण करती है कविता में, कहानी में, कला में अभिव्यक्त होती है, तो वह इस तरह से निर्गुण ढग से अभिव्यक्त नहीं होता। उसका रूप हमेशा सगुण ही रहता है और अपने सगुण रूप के कारण ही उसका मुहावरा, उसकी शैली, शायद उसकी प्रकृति अलग-अलग तरह से उजली दिखायी पड़ती है, तो शायद इसमें भी इस बात की ज़रूरत पड़ती है कि हम यह समझे कि हमारा समय जिस प्रकार से उसमें जीवन्तता धड़क रही है जो उसमें क्षमता दिखायी पड़ती है, जो उसमे अक्षमता दिखायी पड़ती है जहाँ उसमें जीवन है, जहाँ उसमें मृत्यु है इन सब लपेटों के बावजूद हम अपने-चाहे चिरन्तन ही मूल्य क्यों न कहें उसको—उनकी अनुभूति किस प्रकार करते हैं। शायद एक तीसरा भी स्वरूप इस विषय का है। अपने समय को दो तरीके से हम लोग नकार सकते हैं। या तो यह मान-करके चलें कि पहले जो कुछ हुआ था वही सब सार्थक था और आज यह जो कुछ हो रहा है यह सब निरर्थक है और पहले के जो रूप आकार बने थे उन्हीं रूप आकारों में हमको लौट जाना चाहिए अनुभूति वही ठीक है और आज की यह अनुभूति तरह-तरह के दबावों से उसकी शकल बदल जाती है यह हमारी चारित्रिक कमजोरी का नतीजा है।

एक तरीक़ा अपने समय से भाग जाने का यह है। जो लेखक अगर करने की कोशिश करता है तो उसका स्वरूप वही होता है कि पुरानी शब्दावली मे, पुराने ढंग की बात बराबर करता रहे, लेकिन उसका कोई जीवन्त सम्बन्ध, उसकी अपनी अनुभूति से बन नहीं पाता। दूसरा एक और तरीक़ा है अपने समय से निकल भागने का, वह यह है कि हम जैसे यह कहें, कि अतीत में जो था वही स्वर्णिम था और आज निरर्थक हो गया। उसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि आज जो निरर्थक है भविष्य में जो होगा तो जैसे हम अतीत-वादी बनकर आज के दृश्य से आँख चुराते हैं वैसे ही बहुत कुछ अर्थों में हम

यह भी कह सकते हैं, कि आज हम खून करें, कत्ल करें क्योंकि कल हम एक ऐसा समाज बना पायेंगे, जिसमें न खून होगा न कत्ल होगा। आज हम नितान्त व्यर्थता के आभास को प्रकट करें, आज की अनुभूति को हम नितात व्यर्थ मानते हैं, क्योंकि कल वह समय आयेगा जब हमारी अनुभूति सार्थक होगी। आज हम जो कर रहे हैं उसकी सत्ता, उसकी मूल्यवत्ता हमारे आज के कर्म में नहीं है, इसका प्रतिफलन जो बाद में होगा उसमें है। अधिकांशत राजनीतिक ढंग के जो कर्मठ होते हैं वे इसी शब्दावली में बात करते हैं कि कल जो हम कर पायेंगे उसके नाम पर आज हम जो कुछ भी कर रहे हैं क्षम्य है। ठीक है, लेकिन क्या लेखक के लिए यह रास्ता सम्भव है ? क्या वह अतीत की ओर या भविष्य की ओर दोनों ओर वर्तमान से नितान्त निरपेक्ष होकर, अपने समय से नितान्त निरपेक्ष होकर के पलायन करके, भागकर अपनी अर्थवत्ता को खोज सकता है, तलाश कर सकता है ? मैं समझता हूँ कि एक अर्थ में लेखक के लिए यह सम्भव नहीं है। जब लेखक यह भी कहता है कि आज नहीं, काल निरवधि है और कभी न कभी मेरा कोई समानधर्मा उत्पन्न होगा, जब ऐसा एक लेखक ने कहा और जब उसकी बात को लोगों ने नहीं समझा तो उसने अपना न्याय इस प्रकार दिया कि काल निरवधि है, पृथ्वी बहुत विपुल है कभी न कभी समानधर्मा मेरा उत्पन्न होगा ही जो मुझे समझेगा। लेकिन वह व्यक्ति जब यह बोल रहा है तो वस्तुतः वह वर्तमान की अनुभूति को न्यौछावर नहीं कर रहा है, भविष्य के नाम पर वर्तमान अनुभूति की सार्थकता तब भी वह स्थापित कर रहा है। केवल यह दिखाना चाह रहा है कि हमने जिस दबाव को महसूस किया, वह दबाव उत्तरोत्तर अधिक से अधिक लोग महसूस करेंगे। थोड़े समय से कुछ अधिक संवेदनशील हो गया हूँ इसलिए आज के जीवन की धड़कन को कुछ अधिक महसूस कर रहा हूँ, लेकिन ऐसा नहीं है कि यह धड़कन कल होगी तब लोग मुझे समझेंगे। यह धड़कन तो आज ही हो रही है केवल लोग इस समय उसको अनुभव नहीं कर रहे हैं। कहना केवल यह चाहता है, यद्यपि वह केवल एक रूपक के ढंग से बात को कह रहा है। लेकिन राजनीतिक व्यक्ति इस अर्थ में बात नही कहता। राजनीतिक कर्मठ व्यक्ति इस अर्थ में नहीं कहता है कि आज हम समस्त चारित्रिक अनैतिकताएँ करें क्योंकि कल ऐसा समाज बनेगा जो चारित्रिक रूप से नैतिक होगा। तो इसका यह अर्थ नहीं है कि आज यही अनैतिकता उत्तरोत्तर स्वीकार्य नैतिकता होती जायेगी या आज हम जो दबाव

महसूस कर रहे हैं उस दबाव को अधिक से अधिक लोग महसूस करेंगे। बल्कि यह भी कहना चाहता है कि यह हमारा क़दम आज साधन के रूप में है साध्य नहीं है और जब साध्य उपजेगा तो साधन समाप्त हो जायेगा। यह केवल सीढ़ी है, जा तो हम छत की ओर रहे हैं। इसलिए राजनैतिक व्यक्ति छत से सीढ़ी की उपयोगिता नापता है। लेखक जब सीढ़ी पर भी चढ़ा हुआ है तो सीढ़ी की ही अनुभूति को वह पहला मानता है और उसी अर्थ में वह भविष्य के नाम पर भी समसामयिकता को छोड़कर खड़ा नहीं हो सकता। यह दोनों ही आयाम जो मैंने बताये, चाहे भविष्य के चाहे अतीत के, ये दोनो ही अन्ततः हमारी अन्तर्मुखता या अंतरंगता से ही उपजते हैं। इसको मैं अगर अपने ढंग से साक्षी दूँ तो कह सकता हूँ कि जैसा है आज यहाँ बैठा हूँ तो कुछ मेरे अन्दर, जैसा वाजपेयी जी ने कहा, स्मृतियाँ और कुछ शायद मेरे अन्दर अरमान या अभिलाषाएँ हैं; स्मृतियाँ अतीत की ओर हैं अरमान और अभिलाषाएँ भविष्य की ओर हैं, लेकिन जब मैं अपने को समेटता हूँ तो आज जो कि इस समय इस क्षण मैं हूँ जब मैं सोचता हूँ कि चार वर्ष पूर्व मैं क्या था और आज यहाँ बैठा सोच रहा हूँ तो आज मैं वही हूँ जो सोच रहा है कि चार वर्ष पूर्व मैं क्या था। यानी मेरी स्मृति अतीत नहीं है मेरी स्मृति मेरे वर्तमान का क्षण है। और मेरी अभिलाषा भी मेरे वर्तमान का क्षण है। मैं जानता हूँ कि कल मैं इलाहाबाद वापस चला जाऊँगा लेकिन आज मैं जब यह अनुभूति कर रहा हूँ कि कल मैं इलाहाबाद वापस जाऊँगा वह मैं आज हूँ, वह व्यक्ति जो यह जानता है कि कल मैं इलाहाबाद वापस जाऊँगा। यह भविष्य भी मेरे वर्तमान के भीतर समाहित हो गया है। इस क्षण मैं वह हूँ जो कल मैं आया, कल मैं जाऊँगा; वही मैं इस समय हूँ अपनी स्मृति और अपनी अभिलाषा दोनों को लिये हुए। तो जब मैं अपने को इस प्रकार अपने अनुभव को समेकित करता हूँ, एकत्र करता हूँ, तो ज़ाहिर है कि भविष्य अतीत और वर्तमान यह सब चाहे मेरे चारों तरफ़ का समाज हो, मेरे पिता हों, पितामह हों, मेरा समाज हो, मेरे चारों तरफ घटित होने वाली घटनाएँ हों, कम से कम मैं अपने ढग से यह बात कह सकता हूँ, वह मेरे लिए चाहे स्मृति की शकल बनकर आवें, चाहे अभिलाषा की शकल में आवें, तो अंततः यह समस्त घनटायें मेरे आंतरिक चेतना-जाल का अंग ही बन करके आती हैं। और वह चेतना-जाल अतीत से लेकर के भविष्य तक फैलता ज़रूर दिखता है, परन्तु है वह उसी क्षण जिस समय मैं चेतन हूँ। यदि मैं चेतना खो दूँ तो वह भविष्य भी गया और वह

अतीत भी। **इस अर्थ में भी चूँकि हमारी लेखन की प्रकृति, कल्पना की प्रकृति, अनुभव को समझने की प्रकृति, साक्षात्कार की प्रथम शर्त इस प्रकार की समग्रता में ही है।** इसलिए हमारी शकल में अतीत वह अतीत नहीं रह जाता जो इतिहासकार का अतीत है। हमारी शकल में भविष्य वह भविष्य नहीं रह जाता जो केवल राजनीति-कर्मी का विषय है और हमारी समझ में वर्तमान भी केवल वह नहीं है जो मैंने अतीत से विरासत में लिया है और आज ही हम भविष्य की ओर जिसको न्यौछावर कर देंगे। वर्तमान हमारे लिए इस समय की जीवित धड़कन का क्षण है। इसी अर्थ में मैं समझता हूँ कि हम अपने-अपने समय के नैतिक संकट को, चारित्रिक संकट को, विचारों के ऊहापोह को और उस धड़कन को भी जो कभी गतिहीन लगती है, कभी गतिमय लगती है, कभी उत्साह की तरह हमको उछालती है, और कभी अत्यन्त तीव्रता के साथ उठाकर नीचे भी पटक देती है; इस पेंग को, इस हिल्लोल को यदि हमको वस्तुतः जीवित रूप में स्वीकार करना है! मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि केवल मेरी अनुभूति ही मेरे लिए अलभ्य है। मैं जितना भी सबकी अनुभूति को भी समेटने की कोशिश करता हूँ तो अन्ततः उसका निचोड़ आकर के तो मेरी इस समग्रता में ही आता है न ? इसलिए मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि केवल मैं हूँ। मैं भी हूँ यह पूरा समाज भी है, पूरा इतिहास भी है, आगे फैला हुआ भविष्य भी। लेकिन जब हम सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ अपने समस्त अनुभव-संसार के साथ टकराते हैं, तो उस समय यह सम्पूर्णता हमारी समसामयिकता का रूप धारण करती है। इसी अर्थ में साहित्य की खोज, लेखन की खोज बराबर रहती है, कि हम अपने को, अपने समय के साथ जोड़ें। वह मात्र आन्दोलन नहीं है, वह आन्दोलन से और गहरे सूत्र में निजी तौर से जुड़ना है। बस इस समय मेरी समझ में इतनी बातें आ रही थीं, कुछ बोल दिया, लेकिन मैं ज्यादा उत्सुक हूँ अपने बंधुओं के विचार सुनने के लिए।

मैंने अपनी बात में मार्क्सवादियों का नाम नहीं लिया। उसका कारण यह था कि भविष्य के नाम पर वर्तमान को न्यौछावर कर देने की बात अकेले मार्क्सवादी कहते हों ऐसा मेरा अनुभव नहीं है। मार्क्सवादी भी कहते हैं और उनके विचारों में कुछ अधिक तारतम्य होने के कारण उनसे और भी बहुत से मुद्दे हैं जिन पर बहस की जा सकती है, लेकिन आज जो मार्क्सवादी कह रहे हैं अगर मैं योरप की ओर देखूँ तो इस ढंग से वर्तमान नगण्य है जैसा नगण्य शब्द का इस्तेमाल करना इस ढंग से योरप में क़रीब एक हज़ार वर्ष रोमन

कैथालिक चर्च ने सिखाया । मार्क्सवादी तो योरप की विचारधारा के केवल दो सौ वर्ष या डेढ़ सौ वर्ष के लोग हैं—सौ वर्ष के लोग हैं । इससे ज्यादा तो इस ढंग से रोमन कैथोलिक ने सिखाया । बाद में योरप ने उसमें शंकाएँ पैदा कीं, यह बात अलग है, क्योंकि रोमन कैथोलिक चर्च ने परिभाषा तो यों की है कि यह दुनिया आँसुओं की एक घाटी है और इसको किसी तरह काट लेना चाहिए, इसमें कोई सार्थकता नहीं है । जब ईश्वर का राज्य स्थापित होगा तब असली चैन की बंसी बजेगी । तो मैं यह नहीं कहता हूँ कि सारा योरप का चिन्तन इस प्रकार का है । लेकिन दो उदाहरण मैंने दिये और विचारधारा की दृष्टि से अगर देखूँगा तो मार्क्सवादियों को उसका एक प्रति-फलन ही मानता हूँ । एक विशेष दिशा में । मगर मैं मार्क्सवादियों और कैथो-लिक्स की ही बात नहीं करता । जिन अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को जीता उन्होंने भी यही कहा । मेरा ख्याल है कि हम को उन पर भी विचार करना चाहिए । वे लोग जो न मार्क्सवादी थे न कैपिटलिस्ट, वे शुद्ध साम्राज्यवादी थे । ऐसे बहुत विचारक और इतिहासकार हुए हैं 20वीं शताब्दी में । अंग्रेज जिन्होंने अपने समय में पूरी ताक़त के साथ यह कोशिश की समझाने की, कि भविष्य, प्रगति, प्रोग्रेस इस सबका अर्थ है अंग्रेजी राज्य । और बैलगाड़ी, पिछड़ापन, समय की घड़ी को उलटने की कोशिश इसका प्रतीक है मोहनदास करमचन्द गांधी । और आज भी हिन्दुस्तान में ऐसे लोग हैं जो न कैथोलिक हैं न मार्क्सवादी; लेकिन अन्दर-अन्दर यह विश्वास करते है कि गाँधी कुछ हिन्दुस्तान के पिछड़ेपन का प्रतीक है । फ़ारवर्ड तो वही है जो हेनरी फ़ोर्ड है और जो कहीं और चमक रहा है यही फ़ारवर्ड है । आप यहाँ बैठे हैं भोपाल में—कहीं न कहीं आपके मन में यह जरूर होगा कि भोपाल उतना आगे नहीं बढ़ा है, जितना दिल्ली बढ़ा हुआ है । और भोपाल के बगल में जो ग्वालियर वाला है वह समझता होगा कि जो चमक भोपाल में है, लगता है यहाँ बीसवीं सदी कुछ ज्यादा है ग्वालियर में बीसवी शताब्दी कम है । और गाँववाला तो खैर ! आप भी कहते होंगे कि हम लोग ग्वालियर में बैठे हैं तो न सही बीसवीं सदी, उन्नीसवीं शताब्दी में तो अवश्य हैं । लेकिन गाँव वाला तो बिल्कुल बाहरवीं शताब्दी में है । हमीं आप अपने दिमाग़ में इस तरह के घरौंदे बनाते हैं, कि जैसे बीसवीं शताब्दी न्यूयार्क में है, साढ़े उन्नीसवीं शताब्दी बम्बई, कलकत्ता में है, सवा उन्नीसवीं शताब्दी भोपाल में है और ग्रेड से नीचे चलते-चलते जो गाँव हैं उसमें 12वीं शताब्दी है । जब यह हम

बनाते हैं इस प्रकार का ग्रेडेशन, और इसे लेकर भविष्य की एक तसवीर बनाते हैं तो वस्तुत: हम गाँव को न्यूयार्क पर न्यौछार करते हैं। तब हम गाँव-वालों से कहते हैं कि तुम आज भूखे रहो क्योंकि कल यह देश धनधान्य से सम्पूर्ण होगा, जैसा नयी दिल्ली में हो गया है। अब ज्यादा दिन की बात नही है कुछ दिन में तुम्हारे यहाँ भी हो जायेगा। आज तुम अँधेरी कोठरियों मे रहो दस मंजिला इमारतें बनेंगी जैसी दिल्ली में बनी हैं। सौ मंजिला इमारतें तो नहीं बन पायी हैं लेकिन 20 मंजिला तक तो बन ही गयी हैं। कुछ दूर तक तो हम पहुँच ही गये हैं। आपके दिमाग़ के सोचने में बिना मार्क्सवाद के भी प्रगति की, प्रोग्रेस की यह धारणा है या नहीं ? आज इसी जगह किसी तरह से अगर एक दस मंजिला इमारत बन जाये तो भोपालवासी कहेगा कुछ **development** हो रहा है। यहाँ भी साहब देखिए लिफ्ट लग गया, **elevator** लग गया, भोपाल स्टेशन के ऊपर **elevator** लग गया और अब हमारे यहाँ भी कुछ सत्तर मील की रफ्तार से लोग चल रहे हैं। क्या हम ऐसे नहीं नापते हैं ? और इस भविष्य पर तीस वर्ष तक हम अपने वर्तमान को न्यौछार करते रहे हैं। मैं सीधी बात आपसे एक पूछना चाहता हूँ प्रगति का अर्थ क्या है ? **What is the meaning of progressive** यह जो **progressive** शब्द इस्तेमाल होता है एक इतिहासकार है शायद आपने नाम न सुना होगा, क्योंकि वह अंग्रेज **propagandist** इतिहासकार है लेकिन **Sir Henry o' Mally** नाम है, उसका जिसने यही बात गाँधी जी के बारे में कही है कि **he is trying like king Canute to order the waves of progress to stop. The ocean of History can not be stopped like this.** ओ' मैली मार्क्सवादी नहीं है। लेकिन बात वही बोलता है जो कभी-कभी मार्क्सवादी बोलते हैं। मेरे दिमाग़ में ये सब थे इसीलिए मैंने मार्क्सवादियों का नाम नहीं लिया। क्योंकि मार्क्सवादियों के बारे में मेरी धारणा, कम से कम हिन्दुस्तान-वालों की ऐसी धारणा होगी कि कुछ उनमें जरूर **anguish** है जबकि **o'Mally** में बिलकुल **anguish** नहीं है। शायद यह **anguish** जिसको कहा, दिल के अन्दर एक चुभन-सी, वह भी चुभन शायद तभी तक है जब तक कि हिन्दुस्तान का भी मार्क्सवादी सौ फीसदी वर्तमान को भविष्य पर न्यौछावर करने के लिए तैयार नहीं होता। कुछ थोड़ा दिल दुखता है उसका। मार्क्स का दिल नहीं दुखा था। हिन्दुस्तान के मार्क्सवादी का दिल दुखता है, इसीलिए जरा मैं मुलायम हो जाता हूँ मार्क्स से प्रति मुलायम नहीं हूँ क्योंकि मार्क्स ने

तो बिल्कुल साफ़ लिखा है कि अगर अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान को अपनी दानवीय बर्बरता के साथ कुचलकर और तहस-नहस करके न रख दिया होता तो हिन्दुस्तान में कभी प्रगति की लहर ही न उठती। क्योंकि वह तो इंग्लिस्तान का रहने वाला था न! जर्मनी का रहने वाला था न! ब्रिटिश म्यूज़ियम मे लिख रहा था न! तो वह तो साबित करेगा कि हिन्दुस्तान के लिए परम सौभाग्य का विषय था कि इस जर्जर दलदल सामाजिक व्यवस्था में अंग्रेजी साम्राज्यवादरूपी दानव आया, जिसने यहाँ के परम्परागत समाज को तहस-नहस कर दिया, छिन्न-भिन्न कर दिया। यहाँ के हस्त उद्योगों को छिन्न-भिन्न कर दिया। ताकि भारतवर्ष **Feudalism** से उठकर अगला **stage capitalism** की ओर जाये। यही कहा। मैं यह कभी जीवन भर नहीं मानूँगा चाहे मार्क्स क्यों, मार्क्स के दादा आकर कहें कि गुलाम हो जाना हमारे लिए परम सौभाग्य था। क्योंकि इसी के द्वारा हम प्रगति की ओर जा रहे थे। गाँधी जी ने हमें कुछ सिखाया तो यही सिखाया। इसीलिए मैं कहता हूँ कि मार्क्स को तो भविष्य की कोई धारणा थी ही नहीं। जिस भविष्य पर उसने हमारे दादा को और हमारे देश के कपड़ा बनाने वालों को, गाँव-गाँव में कपडा बनाने वालों को इसलिए नष्ट किया और कहा कि यह प्रगति है क्योंकि जब यह नष्ट होंगे तब **Lancashire** का कारखाना चलेगा। पूँजीवाद का उदय होगा तब उस पूँजीवाद का बच्चा एक बम्बई में कारखाना बनेगा तब उसका बच्चा एक दिल्ली या भोपाल में बनेगा और इस प्रकार **Feudalism** से ऊपर उठकर हम **Capitalism** की ओर जायेंगे। यह मैं नहीं मानता। गुलामी किसी भी देश के लिए प्रगति का वाहक नहीं हो सकती। मैं मार्क्स का कलेजा मानता तब, जब वह अपने देश के बारे में भी ऐसा ही कहता। उसके देश को रौंदकर रख दिया था नैपोलियन ने और फ्रांस का इतिहासकार जरूर कहता है कि अगर नैपोलियन ने जर्मनी को गुलाम न बनाया होता तो जर्मनी का एकीकरण न होता। और जर्मनी छोटे-छोटे राज्यों में बँटा रहता। इसलिए प्रगति का सन्देश दिया नैपोलियन ने जर्मनी को गुलाम बनाकर जर्मनीवालों के लिए। जैसे अंग्रेज बोलता था कि **It is the Whiteman's burden to liberate and civilise the Indians** मार्क्स ने अपने देश के बारे में नहीं कहा कि नैपोलियन ने हमको गुलाम बनाया तो हमारी प्रगति के लिए। अपने देश के बारे में नहीं कहा, मेरे देश के बारे में ज़रूर कहा। गुस्सा ज़रूर लगेगा मुझे। लेकिन इस सब के

बावजूद मैं एक लेखक के नाते, एक हिन्दुस्तानी और हिन्दुस्तानी से बढ़कर के आज 20वीं सदी में 1977 और 78 में पूरी दुनिया को देखने वाले व्यक्ति के रूप में यह जरूर कह सकता हूँ कि अब दुनिया चाहे भी तो सारा हिन्दुस्तान, सारा अफ्रीका, सारा एशिया वैसा बन ही नहीं सकता जैसा कि इस समय न्यूयार्क या अमेरिका है। इतने संसाधनों की ज़रूरत पड़ेगी, इतनी मशीनरी की जरूरत पड़ेगी कि इस बीच में न जाने कितना उलटफेर हो जायेगा। यह हो ही नहीं सकता। इसलिए सारी दुनिया कोई नया रुख अख्तियार करे वह बात अलग है। यह वैसा ही है कि अगर मैं कहूँ कि कभी कोई ऐसा दिन आयेगा जब हर देश (ट्यूनीसिया और मारिशस तक) भी एक चन्द्रयान भेजने लगेगा चन्द्रमा को, यह कल्पना आप कर सकते है ? सम्भव है ? एक चन्द्रमा को यान भेजने के लिए कितने resources की जरूरत है कि मारिशसवाला अगर कल्पना करे कि आज अमरीकावालों ने भेजा और प्रगति का रूप यह है कि एक दिन हम भी भेजें। यह सम्भव है ? इतना बड़ा-सा फ़ीजी जैसा देश भेज सकेगा ? तो अगर फ़ीजीवाला कहे कि न्यूयार्कवाला मास्कोवाला चन्द्रमा तक पहुँच गया मनुष्य के लिए बड़ी प्रगति हो गयी और यही प्रगति मेरे लिए भी भविष्य में होगी तो मैं कहूँगा तुम एक ख़ाम खयाली में हो। यह गति ही दुनिया की नहीं है। तो यह जो टेक्नॉलॉजी के दैत्य खड़े किये गये हैं ये दैत्य तभी तक हैं—इनके अस्तित्व के लिए जरूरी है कि कहीं दैत्य न हो। अगर कहीं चंद्रयान है तो उसके होने की भी शर्त है कि कहीं बैलगाड़ी रहे। जिस दिन बैलगाड़ी abolish होगी उसी दिन चन्द्रयान भी abolish हो जायेगा। इसमें मेरे मन में कोई सन्देह नहीं है। न्यूयार्क और भूखों मरता हुआ बस्तर, छत्तीसगढ़ एक ही बीसवीं शताब्दी के अंग हैं। जो यह कहता है कि वह बीसवीं शताब्दी है और यह बारहवीं शताब्दी है, वह मार्क्सवादियों की तरह या साम्राज्यवादियों की तरह झूठ बोलता है। न्यूयार्क और मास्को के होने की शर्त ही यही है कि एक छत्तीसगढ़ भी हो, एक बस्तर भी हो और बना रहे। जिस दिन बस्तर उठने लगेगा, न्यूयार्क गिरने लगेगा। या तो न्यूयार्क और मास्को अपनी रक्षा के लिए बस्तर पर एटम बम गिरा देगा कि उठने न दिया जाय और फिर इसको बस्तरपन की ओर वापस कर दिया जाये और या अगर बस्तर ऐसा हो गया कि उठ गया सचमुच तो, न्यूयार्क गिर जायेगा। गिरेगा जरूर। यह मेरे दिमाग़ में बिल्कुल साफ दिखता है और केवल भारतीय होने के नाते नहीं भारतीय होने के नाते तो इसलिए कि मुझ

भोगी हूँ इसलिए दिख रहा है। मगर यह समस्त मनुष्य के भविष्य की स्थिति मुझको दिखायी पड़ती है। इसलिए मेरे progress के वे मानदण्ड ही नहीं हैं। उसका मतलब यह है कि एक दिन हमको यानी जब हमने यह बना दिया कि हम हैं 18वीं शताब्दी में और वह है बीसवीं शताब्दी में तो हमने तो अपना भविष्य मान ही लिया कि खुला नहीं है मेरे लिए भविष्य। भविष्य तो मेरा तभी है जब मैं न्यूयार्क हो जाऊँ। इसलिए वह न्यूयार्क मुझको space में नहीं दिखता टाइम में दिखता है, जो दिशा में है वह मुझको काल में दिखता है, जो केवल मीलों का विस्तार है वह मुझको समय-विस्तार दिखता है। यह अधिकांश हममें से तीस वर्ष तक सोचते रहे कि We have come to the take-off stage. Now one day will come when we will produce like America. We can make skyscrapers like America–Of course you can but you can't make a civilisation like this.

आज जो हमारी संकट की घड़ी है वह तो यही है न। उस संकट की घड़ी से हम जो भी परिणाम निकालना चाहें लेकिन मैं यह कहूँगा कि जो आदमी तीन वर्ष से खाना नहीं खाये हुए है उसके पेट में आधी रोटी डालना यह है समसामयिकता। और उससे कहना कि दस दिन और इंतजार करो फिर वह दिन आयेगा जब तुमको हम पूड़ी और मालपुआ खिलाएँगे। तो मैं कहूँगा ये—तब तक तो वो मर ही जायेगा, लेकिन क्या यह स्थिति आज है कि नहीं ? और इससे क्या नैतिक और बौद्धिक चुनौतियाँ हमारे लिए खड़ी होती हैं। मैं नहीं मानता हूँ कि दुनिया अंततः सोवियत यूनियन के मॉडल की हो जायेगी। कम से कम हिन्दुस्तान तो नहीं हो पायेगा। जिस दिन हम होने लगेंगे तो सोवियत यूनियन वाले बम गिरा देंगे। हमें कोई सन्देह इसमें नहीं है। या न्यूयार्क वाले गिरा देंगे। कोई न कोई गिरा देगा।

मैं तो मिसाल दे रहा हूँ internal contradictions की, मौजूदा हालत की, जो दुनिया के अन्दर है। क्योंकि मैं ऐसा नहीं कर रहा हूँ कि केवल सोवियत यूनियन के बारे में कह रहा हूँ; मैं ऐसा भी नहीं कह रहा हूँ कि केवल मैं अमेरिका के बारे में कह रहा हूँ, मैं कह रहा हूँ कि जितने जबर्दस्त resources के ऊपर यह सभ्यता पश्चिम की, खड़ी हुई है इन resources में जिस दिन बँटवारा शुरू हो जायेगा, जो भी उसके टकराहट मे आयेगा, जिसकी भी कहीं पर कोर दबेगी वह अपनी शक्ति का इस्तेमाल करेगा। कोशिश यही है कि आज इस तरह का transition जल्दी होने न

पाये । लेकिन तेजी से अगर होगा तो अवश्य टकराहट पैदा होगी । ऐसी मेरी धारणा है । क्योंकि यह अंतर्वर्ती हमारा **contradiction** है इसीलिए मै मानता हूँ कि **transition** की भी **Value** इसी में है कि आज तत्काल उसकी मानवीयता क्या है ? मैं अगर सोवियत यूनियन की तारीफ़ करूँगा या अमेरिका की तारीफ़ करूँगा, वह इस अर्थ मे नहीं कि यह **transition** अन्त में जाकर के यहाँ या वहाँ **fructify** होगा । इसी अर्थ में कि आज इस मानवीयता का क्या स्वरूप है ? वर्ना अगर हम केवल भविष्य के आधार पर चलेंगे तो न अपने देश को बचा पायेंगे, न अपने देश का मान बना पायेंगे, न अपने को ही समझ पायेंगे ।

पुनर्मूल्यांकन : किस आधार पर

विवेचना गोष्ठी ने पुनर्मूल्यांकन के प्रश्न को आग्रहपूर्वक उठाया है, यह अपने आप में इसका लक्षण है कि पहले के साहित्य के विषय में नये सिरे से सोचने और उससे कुछ नया सम्बन्ध स्थापित करने की बेचैनी का अनुभव लोगो को हो रहा है। इस गोष्ठी में विचार-प्रवर्तन करने के लिए आयोजिका श्रीमती उमा राव ने जब से मुझे कहा है, तब से मैं अत्यन्त संकोच में हूँ। वस्तुतः इस गम्भीर प्रश्न पर कुछ भी कहने के लिए मेरे पास आरम्भिक पूँजी कुल इतनी ही है कि मैं इलाहाबाद नगर के एक नये साहित्यिक माहौल का, जिसका सबसे अधिक तेवर इस शताब्दी के छठवें दशक में व्यक्त हुआ, थोड़ा बहुत साक्षी और भागीदार रहा हूँ। पढ़ने में रुचि रही है और आलोचना के क्षेत्र में कुछ लिखा भी जो ककहरा से अधिक नहीं है। इस विपन्नता से मैं केवल एक लाभ उठा सकता हूँ कि पुनर्मूल्यांकन : किस आधार पर, इस प्रश्न का दो टूक सीधा उत्तर देने की, या आधार के लिए सुस्पष्ट प्रतिमान न गिना कर इधर-उधर की बातें करूँ और आप सबको इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए निमंत्रित करूँ।

वैसे भी, आलोचना के लिए, चाहे वह मूल्यांकन हो या पुनर्मूल्यांकन, सीधे सुथरे गिनाये जाने लायक प्रतिमान बहुत काम के नहीं होते। सबसे अधिक आकर्षक आलोचना तो वही होती है जो एक साथ बहुत से पहलुओं को उजागर करती चलती रहती है और पाठक को मूल कृति या कृतियों के बारे में एक विशिष्ट उन्मुख अवस्था में छोड़ देती है। अच्छी आलोचना इस उन्मुख अवस्था को धारदार विशिष्टता प्रदान कर देती है जो कभी-कभी प्रतिमान जैसी लग सकती है। लेकिन यह विशिष्टता समूचे आलोचनात्मक प्रबन्ध में दीप्त रहती है। बिना भ्रान्ति का खतरा उठाये, उसे सूत्रवत संक्षिप्त कर देना सम्भव नहीं होता। इसलिए भी मैं आशा करता हूँ कि परिभाषाओं की शब्दावली से कतराने की मेरी कोशिश को आप बिलकुल निरर्थक नहीं पायेंगे।

पिछले दस पन्द्रह वर्षों से इस नगर के जिस साहित्यिक वातावरण को मैने देखा है, उसमें जीवित लोगों के मन में यह धारणा अवश्य रही है कि साहित्य के बारे में अपने से पहले के लोगों की तुलना में वे कुछ भिन्न ढंग से सोचते

हैं। इस धारणा के पीछे कोई सुव्यवस्थित अध्ययन या शोध करके निकाले गये निष्कर्ष हों, ऐसा नहीं था। हवा में एक नयी गन्ध का आभास भर था। चूँकि इस नगर में प्रायः गोष्ठियों या बैठकों में नये पुराने हर तरह के लोग साथ साथ इकट्ठा होते रहे, इसलिए यह व्यावहारिक अनुभव पक्का होता गया कि सिर्फ़ मतभेद के लिए ही अवसर नहीं है बल्कि सोचने की रीति भी भिन्न है।

रुचिभेद, रागद्वेष, अपने लिए जगह खोजने की कोशिश, घंटों हँसी मज़ाक, ग़म और गुस्सा, छींटाकशी, गपबाज़ी इन सब में शामिल रहा हूँ। फिर भी इस नयी हवा में एक बात अवश्य लगती रही—और आज जब वह झिलमिलाता आवेग बहुत कुछ ठण्डा पड़ गया है तब तो और भी साफ़ दिखती है—कि अभी-अभी जो गुज़रा है उस छायावाद को, और संगठित प्रयासों के बावजूद भी जो अन्तिम साँसें ले रहा है उस प्रगतिवाद को छोड़ कर शेष हिन्दी साहित्य के बारे में कोई नयी राय बनाने की, या कोई भी राय बनाने की जल्दी इस हवा का अंग नहीं थी। यहाँ वहाँ, कभी कभार कुछ टिप्पणियाँ जरूर जड़ी गयीं। लेकिन क्या उन्हें पुनर्मूल्यांकन जैसे भारी भरकम शब्द से विभूषित किया जा सकता है ?

किसी युग के लिए यह बिल्कुल सम्भव है कि वह समूचे अतीत के बारे में बिल्कुल उदासीन हो जाय, या उसे निरर्थक बोझ की तरह महसूस करे, या उसका विनाश करने पर भी तुल जाय। ऐसा हुआ है। क्या पहले लोगों ने एक नयी आग लेकर पुराने ग्रन्थ और अवशेष नहीं जलाये ? इससे बहस नहीं है कि सब धर्म के नाम पर हुआ, या किसी और संस्कार के। कारण चाहे जो हों, हुआ अवश्य। हमारे विषय, अर्थात् साहित्य के सन्दर्भ में भी ऐसे उदाहरण मिलेंगे। लेकिन अपने आप को अतीत से बिल्कुल काट लेने की प्रक्रिया को पुनर्मूल्यांकन, या उसका आधार कहना कठिन है।

मैं इस बहस में यहाँ नहीं पड़ना चाहता कि बख्तियार खिलजी नालन्दा को बजाय भस्म करने के, यदि वहाँ के समूचे साहित्य का पुनर्मूल्यांकन करता तो बेहतर होता या नहीं। यहाँ कहना इतना ही चाहता हूँ कि पुनर्मूल्यांकन अतीत से, अक्सर समूचे अतीत से, नये सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश में जन्म लेता है—उस सम्बन्ध को बिल्कुल समाप्त कर देने से नहीं। यह कहना आवश्यक है क्योंकि अन्यान्य कारणों से हम अक्सर बख्तियार खिलजी की तरह कितने ों को मनसा भस्म करते रहते हैं

मेरे मित्रों में ऐसे लोग हैं जिनका यह ख्याल है कि हम एक तरह की

ऐतिहासिक विच्छिन्नता की उपज है। काल-शृंखला की कोई कड़ी हमारे पास तक आते आते टूट गयी है—और अब वापस मुड़ कर इस खाई के उस पार देखना न सिर्फ एक लगो बात है बल्कि आलोचक को ऐसे दकियानूसी दलदल में डाल देना है जिसमें से उबरना मुश्किल है। अगर हम मुड़कर देखते भी हैं तो सिर्फ इस आश्वासन के लिए कि पुराने कुफ्र और आज के ईमान में अब कोई रिश्ता बाकी नहीं रह गया है। अगर कोई कृतिकार ऐसा कहता है या अनुभव करता है तो उससे झगड़ा करने की जरूरत नहीं है। ऐतिहासिक विच्छिन्नता की यह अनुभूति उसके लिए कितनी गहरी है, या इस अनुभूति से वह कितना मुनाफ़े या घाटे में रहेगा, इसका अनुमान तो उसकी रचना से ही निकलेगा। सृजनधर्मिता न जाने किन-किन सही गलत जगहों से अपनी खूराक खोज लेती है, पड़ोसी की टेढ़ी नाक से लेकर ऊर्ध्व चेतना की बर्राहट तक। लेकिन आलोचक के लिए यह सुविधा नहीं है। अपने और अतीत के बीच इतनी गर्जनापूर्ण दरार बना कर, वह अपने युग का चित्र भी नहीं समझ या समझा पायेगा।

मैं यह मान कर चल रहा हूँ कि यदि पुनर्मूल्यांकन या मूल्यांकन शब्द का भी हमें अवमूल्यन नहीं करना है तो इस उत्तरदायित्व को गम्भीर अर्थ में आलोचना को ही देना पड़ेगा। समय-समय पर जो साहित्यिक आन्दोलन होते रहते हैं, या घोषणा पत्र निकलते हैं, या रचना की नयी मुद्रायें उभरती हैं, फब्तियाँ कसी जाती हैं, वे खाद हो सकती हैं, स्वयं पुनर्मूल्यांकन नहीं है। शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि नयी पीढ़ी और नयी हवा के तमाम शोर के होते हुए भी इस क्षेत्र में आलोचक के सहज बन्धु शोध और अनुसन्धानकर्ता अधिक हैं जिनसे लेखकों की, खासतौर पर उत्तेजित लेखकों की पटरी बहुत कम बैठती है।

कोई लेखक कृतिकार और आलोचक दोनों हो, इसमें कोई हानि नहीं है। अधिकतर लाभ ही है। लेकिन उसे आलोचक का दायित्व निभाना होगा। यह जो ऐतिहासिक विच्छिन्नता का दबा हुआ भाव है, इतिहास की कड़ी टूट जाने की अनुभूति है, क्या यही इसके लिए जिम्मेदार नहीं है कि तमाम शोर के बावजूद हमें पिछले दशक के समीक्षात्मक अभियान को पुनर्मूल्यांकन मानने में हिचक होती है? और इसी ने गम्भीर अर्थ मे आलोचना के रास्ते को अवरुद्ध किया? मैं अक्सर इस विचार में गुम हो गया हूँ। नयी कविता के लिए अलग से नये प्रतिमानों की तलाश हुई। लेकिन पूरी आलोचना लगभग इस तरह बँट गयी कि

कुछ लोग नयी कविता पर लिखेंगे कुछ लोग पुराने साहित्य पर। यह केवल आज के विद्या-संकुल युग में पांडित्य के विशेषीकरण का उदाहरण नहीं था—बल्कि दोनों ओर से मौलिक प्रश्नों से कतराते रहने का सुविधाजनक तरीका था। यह आवश्यक नहीं है कि कोई आलोचक सम्पूर्ण साहित्य पर लिखे तभी हम उसे पुनर्मूल्यांकन के पक्ष में बलशाली करके पहचानेंगे। यद्यपि अगर वह ऐसा करे तो अधिक प्रामाणिक होगा। फिर भी वह एक लेखक या किसी एक धारा अथवा युग पर भी लिख कर पुनर्मूल्यांकन की प्रक्रिया को तेज़ कर सकता है। सवाल यह है कि जो भी उसने लिखा है क्या उसकी झंकार इतनी व्यापक है कि वह साहित्य के सभी सम्बन्धों को छू रही है? यह झंकार दो अलग दुनिया में निर्मित हो जाने से नहीं उत्पन्न हो सकती। अपने एक पुराने लेख में मैंने इसी विवेचना गोष्ठी में कहा था : जरूरत नयी कविता के प्रतिमान की नहीं है, कविता के नये प्रतिमान की है। मानना कठिन है कि वह जरूरत पूरी हुई है।

यह एहसास कि अतीत से हमारा सम्बन्ध टूट गया है, आधा है। आलोचक के सम्मुख इसे चुनौती की तरह आना चाहिए। पुनर्मूल्यांकन के लिए यह आरम्भस्थल है। इसका तात्पर्य यही है कि अब तक जो सम्बन्ध बनाये गये थे, या जो सम्बन्ध हमें उत्तराधिकार में मिले थे, उनसे हमारी व्याकुल करने वाली शंकाओं का समाधान नहीं होता। नये अनुसंधान ने नये तथ्य प्रस्तुत कर दिये जो पुराने सम्बन्धों पर प्रश्न-चिन्ह लगाते हैं। या जिन सम्बन्धों की ओर पहले ध्यान नहीं दिया गया, उन्हें उपेक्षित करना कठिन हो गया है। लेकिन इस एहसास के बाद दूसरा क़दम पूरी शक्ति के साथ फिर नये सम्बन्धों, नयी व्यवस्था को निर्मित करने के लिए उठाना आवश्यक है। इस दूसरे क़दम की उद्विग्नता ही पुनर्मूल्यांकन के लिए आधार बनती है।

इस दृष्टि से शायद प्रगतिवादी और अधिक चेतनशील रहा। इसलिए भी कि प्रगतिवाद आलोचना का आन्दोलन ज्यादा था, सृजनात्मक साहित्य का कम। जो भी हो, प्रगतिवाद ने न सिर्फ़ आगे और आस-पास देखा, पीछे भी देखने की विवशता उसने महसूस की। यह प्रश्न फिर भी उठता है कि प्रगतिवादी आवेग में जो कुछ आलोचना लिखी गयी क्या वह पुनर्मूल्यांकन है?

मैं इसके प्रति जागरूक हूँ कि प्रगतिवाद पूरी दुनिया के पैमाने पर आलोचनात्मक हथियार होने का दावा लेकर उतरा था। लगभग उसी तरह जिस तरह खलीफ़ा उमर के सिपाही सिकन्दरिया के के सामने खड़े हुए
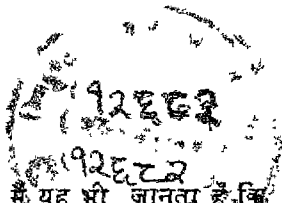
थे। मैं यह भी जानता हूँ कि प्रगतिवाद के पास बड़ा भारी दर्शन और सिद्धान्त-शास्त्र है। लेकिन इस सबकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है। हम इस उन्मेष को केवल अपने ही सन्दर्भ में देखें। प्रगतिवादी आलोचना की कमियों से आप परिचित हैं। उसकी व्याख्या तरह-तरह से हुई है। पुनर्मूल्यांकन के सन्दर्भ में हम केवल इतना ही प्रश्न करें—इस तमाम लेखन के बाद हमें क्या उपलब्ध हुआ ?

प्रगतिवाद का आरम्भस्थल वह एहसास नहीं है कि अतीत से हमें अपने सम्बन्धों को नये ढंग से निर्मित करना है। वस्तुत: प्रगतिवाद अतीत की ओर अपनी वैधता स्थापित करने के लिए दौड़ता है। उसकी व्याकुलता का प्रमुख रूप यही है। शायद इसीलिए हमारी जानकारी में कुल इतना जुड़ता है कि तुलसीदास माँग कर खाने और मसीत के सोने के अनुभव से गुजर चुके थे, या कलिकाल वस्तुत: भारत दुर्दशा का वर्णन है, या अपने काल में तुलसीदास लोकनायक थे, प्रगतिशील थे। उसी तरह सूरदास प्रगतिशील थे, कबीरदास प्रगतिशील थे। वे सारे लेखक जिनकी श्रेष्ठता के कायल आलोचक के युग में लोग आमतौर पर थे, सब प्रगतिशील थे। इस नयी मशाल से यहाँ वहाँ जो रोशनी पड़ी उससे कुछ नया अवश्य जुड़ता दिखाता है, लेकिन काफ़ी जगह फिर भी छूट जाती है। सन्तोष नहीं होता। लगता है मूल प्रस्ताव फिर भी रामचन्द्र शुक्ल का ही रहा, प्रगतिवाद ने उसमें दो एक छोटे-मोटे संशोधन अवश्य प्रस्तुत कर दिये। और हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे आलोचकों ने उन संशोधनों को इस तरह समाहित कर लिया कि बात फिर जहाँ की तहाँ बनी रही। जिस तरह हिन्दी कविता में पन्त जी प्रगतिवाद की प्रतिष्ठा का जल-पान करके समाधिमग्न हो गये। और उर्दू में शायरे इन्क़लाब जोश बोरिया लेकर पाकिस्तान चले गये।

यहाँ सम्भवत: अतीत का उपयोग भी कर लेना और अतीत से वास्तविक सम्बन्ध बनाना—इन दोनों में अन्तर करके हम कुछ और गहराई में प्रविष्ट हो सकेंगे। क्या यह अन्तर करना सम्भव है ? उदाहरण के लिए आलोचना-दृष्टि के परिवर्तन की एक परिस्थिति हम लें। एक दौर ऐसे लोगों का हो सकता है जो परम्पराओं को सुरक्षित रखना अपने 'युग-बोध' की बड़ी आवश्यकता समझता हो। साथ ही सुरुचि सम्पन्न मधुर भाषा को काव्य का दीप्तिमान गुण मानता हो। ऐसा दौर, कबीरदास को पढ़कर 'अच्छा है; परन्तु···' जैसी प्रतिक्रिया व्यक्त करके एक किनारे रख दे। फिर दूसरा युग

आये जिसकी तात्कालिक आवश्यकता रूढ़ियाँ तोड़ने की अधिक हो। वह युग अपने उद्देश्य की पूर्ति या अपनी रुचि के परितोष के लिए कबीर का पुन-र्मूल्यांकन करे। उनकी महत्ता की घोषणा करे। कहे कि पहले के लोगों ने 'परन्तु' लगा कर बड़ा अन्याय किया। कबीरदास 'परन्तु' से कहीं ज्यादा आगे के कवि हैं।

यह मैंने मनगढ़ंत उदाहरण नहीं लिया। आप जानते हैं कि ऐसा हुआ है। बहुत सीमित अर्थ में कहा जा सकता है कि दूसरे युग ने पहले युग की तुलना में कबीर का पुनर्मूल्यांकन किया। आप रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी और प्रकाशचन्द्र गुप्त के बीच दृष्टि संचरण पर विचार करें। सम्भवतः इस परिवर्तन मे हम आलोचकों की अपनी रुचि और मति के अतिरिक्त युग-बोध के दबाव का भी दर्शन कर सकते हैं। लेकिन क्या कोई गहरा अर्थ है जिसमे लगता है कि प्रगतिवादी आलोचना यहाँ कबीर का केवल उपयोग कर रही है? उस तरह का सम्बन्ध नहीं स्थापित कर रही है जिसे हम पुनर्मूल्यांकन कहें?

यहाँ थोड़ा विषय से हट कर, एक और निहित प्रश्न का उल्लेख करूँगा। यदि हिन्दी की व्यवस्थित आलोचना की डेढ़ दो शताब्दियाँ गुजर चुकी होती, तो शायद इन संचरणों को हम अधिक सफ़ाई से देख सकते। और कुल समस्या भी इतनी तार्किक सैद्धान्तिक रूप न लेती जितनी अक्सर ले लेती है। लेकिन रामचन्द्र शुक्ल ने जिस प्रक्रिया को इतना विशद रूप दिया उसे अभी दिन ही कितने हुए हैं? तब से क्या मूल्यांकन का काम पूरा हो गया कि हम पुनर्मूल्यांकन की चिन्ता करें? और इसको ही हम स्वीकार क्यों न करें कि रामचन्द्र शुक्ल ने भी उसी तरह अतीत का उपयोग भर किया जिसकी विवेचना हम प्रगतिवाद के सन्दर्भ में कर रहे हैं? ये दोनों प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं। पहले प्रश्न के उत्तर की सम्भावित भूमिका प्रस्तुत करने का प्रयास मैं इस वक्तव्य में कर ही रहा हूँ। दूसरे प्रश्न के बारे में आपका ध्यान इस ओर आकर्षित करूँगा कि हो सकता है कभी-कभी लगे कि रामचन्द्र शुक्ल भी अतीत का उपयोग कर रहे है। लेकिन वे निश्चय ही उससे आगे बढ़ कर और गहरे सम्बन्ध निर्मित करते है। यदि उस दौर का काम केवल उपयोग तक ही सीमित रहता तो बाद के 'युग बोध' द्वारा उपजे हुए उपयोग पुनर्मूल्याकन का काम बहुत आसानी से पूरा कर चुके होते।

बहरहाल आलोचक अतीत स जिन सम्बन्धों को निर्मित करता है वा

बदलता है उसका एक और पहलू भी है। पुस्तकालय की आलमारी में सजी हुई किताबें शायद हमारे आपके लिए अतीत की अच्छी उपमा है। वाल्मीकि से लेकर आज तक के सारे लेखक एक दूसरे से रगड़ खाते हैं। जब मैं उस आलमारी की ओर बढ़ता हूँ तो वे सबके सब न सिर्फ़ एक साथ वर्तमान बन जाते हैं बल्कि उनमें एक पारस्परिक सम्बन्ध भी बनता है। संक्षेप में मेरे अपने सम्बन्ध मे इन तमाम पुस्तकों का परस्पर सम्बन्ध भी शामिल है। जब हम कबीरदास से अपनी उपयोगिता के दबाव से ही सही, अपने सम्बन्ध को बदला हुआ पाते हैं तो एक ढंग तो यह है कि हम केवल इतना ही व्यक्त करके रह जायँ लेकिन कबीरदास अकेले नहीं हैं। वे तुलसीदास, जायसी, सूरदास, देव, बिहारी—इन सबसे—और भी बड़े पैमाने पर हमारे समस्त अतीत से जुड़े हुए हैं। एक से भी अगर हमारा सम्बन्ध बदलता है तो कमोबेश सभी से बदलता है। इसी को मैंने कहा कि पुनर्मूल्यांकन में एक झंकार होती है और प्रश्न यह है कि वह कितनी दूर तक जाती है। हम जानते हैं कि तुलसीदास 'साखी सबदी दोहरा' वालों का जिक्र आते ही अपना सन्त स्वभाव छोड़ कर आपे से बाहर हो जाते हैं। पापी, कपटी, नीच, अधम—कोई शब्द वर्जित नहीं रह जाता। यह आवश्यक नहीं है कि इन दोनों के सम्बन्ध को हम उतना ही मानें जितना तुलसीदास स्वयं कहते हैं। ये सम्बन्ध अधिक गहरे और जटिल हैं। जिन्हें तुलसीदास स्वयं नहीं जानते थे लेकिन सिंहावलोकन दृष्टि से हम जानते हैं। तब क्या यह सम्भव है कि दृश्य-अदृश्य धागों में बँधे हुए इस पूरी व्यवस्था में हम केवल एक मुद्दे में उलट फेर कर दें और शेष को हम यों ही छोड़ दें? यह तभी सम्भव है कि हम इस समूचे देश काल के आन्तरिक रिश्तों को देखने से इन्कार कर दें। लेकिन तब हम केवल पुनर्मूल्यांकन को पुनरुपयोग तक सीमित कर देंगे, और गहरा, आत्मीय सम्बन्ध निर्मित करने में असमर्थ रह जायेंगे।

शायद यह पहलू काफ़ी स्पष्ट है और इसको इतने विस्तार से कहने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन इस अधूरे प्रयासों की बहुतायत है। एक रोचक उदाहरण उर्दू से देने की अनुमति चाहूँगा। उर्दू आलोचना के सामने कुछ गहरी समस्याएँ हैं—जो स्वयं उर्दू साहित्य विशेषतः कविता की विशिष्ट रूढ़िवादी प्रवृत्ति के कारण पैदा होती हैं। बहरहाल, इधर कुछ दिनों से नजीर अकबरा-बादी का पुनर्मूल्यांकन हुआ है। नजीर एक ऐसे कवि हैं जिनकी कविता अपने आप में दिल्ली और लखनऊ में लिखी जानेवाली कविता की निरन्तर आलो-चना है। अगर हम नजीर को मंच के सामने लाकर खड़ा करते हैं तो उसे

तमाम व्यवस्था में जिसमें सारा उर्दू काव्य मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने बाँधा था—बदलाव करना होगा। इस समस्या का समाधान निकालना अभी उर्दू पुनर्मूल्यांकन के लिए शेष है।

ये आंशिक प्रयत्न हिन्दी में भी हुए हैं। इसीलिए शोध और अनुसंधान का ग़लत सम्बन्ध पुनर्मूल्यांकन से दिखता है। इसी से यह भी लग सकता है कि पुनर्मूल्यांकन की प्रक्रिया बराबर चलती रहती है, और इस निरन्तरता में यह कहना कठिन है कि मूल्यांकन कहाँ ख़त्म हुआ और पुनर्मूल्यांकन कहाँ शुरू हुआ। इस निरन्तरता का समाधान किसी दार्शनिक द्वन्द्ववाद से करना मेरे लिए बात को निरर्थक बहस में उलझा देना है। आलोचना के दायित्व की दृष्टि से हमारे लिए उस अतिरिक्त दबाव को ही महसूस करना यही अभीष्ट है जो सर्जनात्मक ढंग से पुनर्मूल्यांकन के प्रश्न को पहचानने और उसका समाधान निकालने की आन्तरिक व्याकुलता को जन्म देती है। आरम्भ स्थल आलोचना की निरन्तर प्रक्रिया नहीं, बल्कि आलोचक के मन की व्याकुलता है। इसीलिए मैं पुनर्मूल्यांकन को एक समग्र दबाव की तरह आपके सामने प्रस्तुत करने की कोशिश कर रहा हूँ।

निर्वैयक्तिक ढंग से हम कह सकते हैं कि समय बीतता है और लोगों की दृष्टियों में परिवर्तन होते रहते हैं। लेकिन इतिहास का बीतना अपने आप में काफ़ी नहीं है कि सचमुच पुनर्मूल्यांकन का दबाव महसूस किया ही जाय। हम जानते हैं कि बहुत उड़े उलटफेरों के बावजूद इतिहास की ऐसी शताब्दियाँ बीती हैं जब इस तरह का परिवर्तन नहीं हुआ। जिस प्रकार की आलोचना की हम चर्चा कर रहे हैं वह योरप में भी अपेक्षाकृत नयी चीज़ है। लेकिन इतिहास का प्रसार कहीं लम्बी चीज है। वस्तुतः अतीत से सम्बन्ध निर्मित करने की कोशिश का अर्थ है, समूचे इतिहास को आत्मसात् करने की कोशिश। इस प्रयास में ऐतिहासिक समय के समकक्ष हमारे मानवीय समय का निर्माण होता है। मानवीय समय के फ़ासले और उसकी गतियाँ इतिहास के समय की दूरियों और गतियों के साथ बिल्कुल एकात्म नहीं होतीं। इसलिए आत्मसात् करने की प्रक्रिया सिर्फ़ ऐतिहासिक क्रम को ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत नहीं करती, बल्कि तारतम्य में उलटफेर कर देती है। अतः साहित्यिक पुनर्मूल्यांकन का आधार सिर्फ़ इतिहास के क्रम की साक्षी देना नहीं है, न देखनेवाले के लिए, और न उस साहित्य के लिए जो पुनर्मूल्यांकन का विषय है

मेरे लिए इस दार्शनिक बहस में पड़ने की ज़रूरत नहीं है कि ऐतिहासिक समय और मानवीय समय में यह अन्तर क्यों पड़ता है। हम इस अन्तर को महसूस करते हैं, इतना विचार-विमर्श की शुरुआत करने के लिए काफ़ी है। हम में से बहुतों ने अनुभव किया होगा, या कम से कम मैंने अनुभव किया है, कि कालिदास हमारे अधिक निकट हैं बनिस्बत उस ऐतिहासिक काल के जब कालिदास ने अपना साहित्य रचा। इतना ही नहीं, यह भी सम्भव है कि आज से पचास वर्ष पहले रीति साहित्य और उसका युग जितनी दूर था, उतना दूर आज नहीं। इन फ़ासलों का घटना-बढ़ना, और मानवीय समय तथा ऐतिहासिक समय के बीच नये तनावों का बनना और नये सन्तुलनों का तलाश करना पुनर्मूल्यांकन का महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रगतिवाद का प्रयास पुनर्मूल्यांकन जसा न लग कर, संशोधन जैसा क्यों लगता है, इसे समझने के लिए शायद इन सम्बन्धों की माप उपयोगी हो। ऐतिहासिक और मानवीय के बीच जो सन्तुलन प्रगतिवाद के पहले बनाये गये थे उनमें प्रगतिवाद को विशेष परिवर्तन की ज़रूरत नहीं मालूम पड़ी। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि सिर्फ़ इसी कारण से यह सारा प्रयास उपेक्षणीय या निरर्थक हो गया। अन्य दूसरे उपयोगी काम हुए। उन सन्तुलनों को विस्तार दिया गया। उनमें नये रंग भरे गये। लेकिन किसी आलोचनात्मक प्रयास को महत्त्व देने का यही एक तरीका नहीं है कि उसे पुनर्मूल्यांकन की कोटि में रखा ही जाय।

अगर सोचने का यह आधार सही है, तो हम उस विडम्बना का सामना कर सकते हैं जो पुनर्मूल्यांकन के क्षेत्र में इतिहास की सतत क्रमबद्धता और हर मूल्यांकन की युग-सापेक्षता मानने से उत्पन्न होती है। जैसा आप सब जानते हैं इस विडम्बना की दो शकलें हैं। एक तो यह कि हर मूल्यांकन अन्ततः अपने युगबोध से इतना बँधा हुआ है कि हर प्रयास युगाभिव्यक्ति से अधिक कुछ नहीं है। कल का मूल्यांकन अगर केवल समय बीतने के कारण आज झूठा पड़ गया तो आज का पुनर्मूल्यांकन भी कल उसी तरह झूठा पड़ जायगा। प्रयासों की यह समूची शृंखला व्यर्थ दीखती है। तब पुनर्मूल्यांकन का उद्देश्य या उसकी दिशा क्या रह जाती है? इस विडम्बना की दूसरी शकल यह है कि पुनर्मूल्यांकन ऐतिहासिक क्रमबद्धता का अधिक से अधिक भरा पुरा आलेखन है। हमारे हाथ में इतना ही है कि हर कृति की चूल बड़े परिश्रम से, निरन्तर शोध करते हुए तथ्य पर तथ्य जमाते हुए, उसके अपने युग के साथ बैठा दें। पुनर्मूल्यांकन के दावेदार अक्सर घोषणा पत्र अपने आप को

अधिक समीचीन या प्रासंगिक बताने के लिए भी अपने को नितान्त अपने युग से जोड़ते हैं। यह भी क्रमबद्धता की रहस्यमय शक्ति के प्रति आत्मसमर्पण का एक तरीका है। हर पुनर्मूल्यांकन, मात्र बाद का होने के कारण, पहले की अपेक्षा एक कदम आगे होने का दावेदार हो जाता है। सिद्धान्ततः इस प्रक्रिया का एक अन्त है। एक समय आयेगा जब सारे सम्भव तथ्य जाने जा चुके होंगे, शोध के लिए कुछ भी नया उपलब्ध नहीं रह जायगा। सारे साहित्य की चूल बैठ चुकी होगी। आप देखेंगे कि पहली शकल जहाँ पुनर्मूल्यांकन को इतनी आत्मपरकता प्रदान कर देती है कि वह एक माहौल के पूर्वाग्रह या झक से ज्यादा नहीं रह जाती, वहाँ दूसरी शकल उसे इतनी वस्तुपरकता प्रदान कर देती है कि हम एक अंधी गली में पहुँच कर रुक जाते हैं। हर हालत में यह स्थिति ऐतिहासिक समय और मानवीय समय को एक या दूसरे की सत्ता में समाहित कर देने से पैदा होती है।

सौभाग्य से व्यावहारिक आलोचना इसमें से किसी अद्वैत में नहीं पड़ती और आलोचना का मुहावरा निरर्थक होने से बचने की कोशिश करता रहता है। लेकिन इस खतरे से आगाह रहना आवश्यक है। दिमाग पर बहुत ज़ोर डालकर भी मैं सिर्फ़ इतने को काफ़ी कारण नहीं मानता कि चूँकि मैं आज १९६७ में जीवित हूँ अतः जायसी के बारे में जो कुछ १९२७ में कहा गया उससे मतभेद व्यक्त करूँ ही। या १९२७ में निर्मित समस्त रिश्तों को तोड़ डालूँ, सिर्फ़ इसलिए कि तब से चलीस वर्ष बीत गये। सिर्फ़ कालान्तर अपने आप में पुनर्मूल्यांकन का प्रमाण नहीं हो सकता। कालान्तर से मदद ज़रूर मिल सकती है, विशेषतः उन लोगों के लिए जो एक प्रचलित अफ़वाह से दूसरी प्रचलित अफ़वाह तक पर्यटन करते रहते हैं। लेकिन वस्तुतः कालान्तर के अतिरिक्त कुछ और भी चाहिए। पुनर्मूल्यांकन पहले की आलोचना और आज की आलोचना के बीच गम्भीर संवाद है, महज़ ताज़े द्वारा बासी को चुटकी में उड़ा देना नहीं है।

'वह दृष्टिकोण पुराना पड़ गया, अब ज़माना दूसरा आ गया' या 'यह सब बासी हो चुका है।' कितनी बार साहित्य जगत में इन या इनकी तरह के सूत्रों से हमारी भेंट होती है। जब हम किसी आलोचना पद्धति या मूल्यांकन को बासी या पुराना कहते हैं तो किस अर्थ में इस प्रकार का आग्रह उचित है? अपने आप में ये शब्द अनेकार्थक या खासे सन्दिग्ध हैं। अगर इनके पीछे केवल पंचांग के वर्षों के बीतने की ध्वनि है या आज के अखबार में

किसी नयी समस्या के उदय होने की सनसनीखेज़ खबर है तो पुनर्मूल्यांकन के लिए ये शब्द बेमानी हैं।

आपने सुमित्रानन्दन पन्त की पल्लव की भूमिका पढ़ी होगी। कितने जोशखरोश के साथ पन्त केकी की कहर भेकी की भहर जैसी शब्दावली में ब्रजभाषा कविता की चिन्दियाँ उड़ाते हैं! लेकिन पूरी पद्धति में 'यह सब बासी हो गया, अब नया ज़माना आया' यह सूत्र अनुस्यूत है। कई प्रश्न उठते है। एक विचित्र बात तो यही है कि भारतेन्दु और उनके बाद मैथिलीशरण गुप्त और उनके समकालीनों ने जिन्होंने सचमुच ब्रजभाषा से खड़ी बोली की ओर क्रान्ति का नेतृत्व किया, असली लड़ाई लड़ी, पहले के कवियो के बारे में इस ललकारती हुई आवाज़ का निर्माण करना ज़रूरी नहीं समझा। जब युद्ध ख़त्म हो गया, शत्रु गिर गया तब पन्त जी खाहमख़ाम भुजदण्ड फड़का रहे हैं! बासीपन की इस शब्दावली का क्या अर्थ है? दूसरी विचित्र बात यह है कि रीतिकविता से भी ज्यादा पुरानी भक्ति कविता, उससे भी ज्यादा पुराना संस्कृत साहित्य या आप्टे के शब्दकोश के शब्द, उससे भी ज्यादा पुराने उपनिषद्—ये सब बासी नहीं पड़े हैं। इसके अतिरिक्त ऐसा नहीं है कि स्वयं उन कवियों के पास अपनी कविता में अच्छे बुरे का विवेक करने की बुद्धि नहीं थी। वे भी जानते थे कि पिटे पिटाये शब्दों का प्रयोग कविता को खेल बना देता है। आप सब ठाकुर के प्रसिद्ध कवित्त 'सीख लीनो खंजन ...'आदि से परिचित हैं। विचित्र बात यह है कि रीति काव्य के अन्तर्निहित विवेक-बुद्धि से पन्त नहीं उलझते। इस तरह उलझने पर 'बासीपन' की अधिक गहरी छान बीन करनी पड़ती जिसके लिए वे तैयार नहीं थे।

इस सन्दर्भ में मुझे मुहम्मद हुसैन आज़ाद के आबेहयात के उस हिस्से की याद आ रही है जहाँ उन्होंने लगभग ऐसे ही फ़िकरों का तूमार बाँध कर उर्दू ग़ज़ल का फ़ातहा पढ़ा है। आज़ाद के पुनर्मूल्यांकन को औरों ने भी उठाया। आश्चर्य की बात यह है कि आज़ाद के सर धुनने के लगभग सौ वर्ष हो रहे हैं और याराने-तरीकत मय फ़िराक साहब के ग़ज़ल कहने से बाज़ आ रहे हैं।

आज़ाद की शैली पन्त की भूमिका से ज्यादा मीठी है। लेकिन तर्क संक्षेप में दोनों का एक ही है 'बासीपन'—सारी तान ज़माने की करवट पर टूटती है। पन्त पराजित शत्रु से लड़ रहे हैं, इसलिए बात को बासीपन से आगे नहीं बढ़ा पाते। आज़ाद बासीपन से आगे नहीं बढ़ते, इसलिए गहरी बहस

नहीं खड़ी हो पाती। ग़ज़ल का वास्तविक पुनर्मूल्यांकन नहीं हो पाता। जैसा हमने पहले देखा इस तर्क पद्धति से हम केवल इसी चक्र में पड़ सकते हैं। बासी→ताजा=बासी→ताजा=बासी इत्यादि।

पुनर्मूल्यांकन सिर्फ़ इस सतत मुरझाती हुई श्रृंखला की आख़िरी कड़ी नहीं है। यह नहीं है कि जो आज कहा जायगा वह कभी मुरझायेगा नहीं। इतिहास के समय की गति तो यह है ही। लेकिन पहले का इतिहास गति के कारण मुरझा चुका है, यह अपने आप में पुनर्मूल्यांकन के लिए यथेष्ट नहीं है। आज के प्रेरणास्रोत के रूप में, आज के सम्बन्धों को निर्मित करने के लिए, सत्य के प्रति प्रतिबद्धता अनिवार्य शर्त के रूप में उपस्थित होती है। मतभेद का मुकदमा पुराने बनाम नये का नहीं है, उसे हर हालत में ग़लत बनाम सही, झूठ या अपर्याप्त सच बनाम सच का रूप ग्रहण करना होगा। देखने में यह अन्तर महत्त्वपूर्ण नहीं लगता। लेकिन इसका सम्बन्ध आलोचना के मुहावरे से है। और आलोचना सिर्फ़ दृष्टिकोण नहीं है, उसका अस्तित्व उसकी गहराई उस समूची बनावट में है जो उसके मुहावरे से निकलती है। पुनर्मूल्यांकन की दिशा युगबोध नहीं, सत्य है।

इसीलिए, पुनर्मूल्यांकन की यह अनिवार्य जिम्मेदारी नहीं है कि वह हर पुराने दृष्टिकोण का खण्डन करे। वस्तुतः नये पुराने की जगह पुनर्मूल्यांकन पुराने-पुराने की ओर जाकर अपने सम्बन्ध बना सकता है। लेकिन समूचे इतिहास के साथ उसके सम्बन्ध की परिभाषा में सत्य की व्यंजना बराबर होती रहेगी। उस शर्त को गौण मानने पर पुनर्मूल्यांकन भी गौण ही होगा।

धर्मनिरपेक्षता की खोज में हिन्दी साहित्य और उसके पड़ोस पर एक दृष्टि

—विजयदेव नारायण साही

मेरी इस बहस का मुख्य उद्देश्य धर्मनिरपेक्षता के सवाल से उलझना है। क्या धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया को समझने के लिए हिन्दी साहित्य की छानबीन से कुछ मदद मिल सकती है? मेरी दृष्टि में धर्मनिरपेक्षता कोई परिभाषित प्रत्यय नहीं है। बल्कि यह एक प्रक्रिया है। ख़ास तौर से इसलिए धर्म खुद एक स्पष्टतः परिभाषित प्रत्यय नहीं है। धर्म की सीमा सिकुड़ती फैलती रही है। इतिहास हमारे सामने तरह-तरह की समस्याएँ उठाता है। उन समस्याओं को हल करने के दौरान भावनाओं और व्यवहारों के साँचे बनते बिगड़ते हैं। इसलिए धर्मनिरपेक्षता भी प्रक्रिया की ही तरह है।

हिन्दुस्तान में धर्मान्ध और धर्मनिरपेक्ष तत्वों की उधेड़बुन करने पर दो तरह की प्रक्रियाएँ सामने आती हैं। एक प्रक्रिया तो ख़ासतौर पर हिन्दू मुस्लिम रिश्तों को लेकर चलती है। इस रिश्ते में टकराव भी है, समझौता भी है। विभाजन भी है, समन्वय भी है। यह प्रक्रिया बहुत पुरानी है। इसकी जड़ें हमारे इतिहास के मध्यकाल में है। हिन्दू बहुल प्रजा पर मुस्लिम सुल्तानों और बादशाहों का साम्राज्य एक अर्से तक रहा। साम्राज्य स्थापित करना अपने आप में धर्मनिरपेक्ष काम है। किस राजा या रंक के मन में उस जमाने में यह ग़लत या सही हौसला नहीं उमड़ता दीखता? क्या देश में क्या विदेश में। लेकिन हिन्दुस्तान के इस दौर में यह सारा उलटफेर धर्म की व्यापक लपेट में आ जाता है। कभी साम्राज्यवादी राजाओं के पक्ष में हथियार की तरह, कभी शान्ति चाहनेवालों के लिए समस्या की तरह। इस लपेट के भीतर ही तरह-तरह की तसवीरें उभरती हैं—तनाव और समझौते, लड़ाइयाँ और संधियाँ, दुश्मनी और दोस्ती, अलगाव और घोलमेल—सारे व्यापार में हिन्दू और मुसलमान का साक्षात्कार दीखता है। कहीं अलगाववाले लोग प्रबल हो जाते हैं, कहीं घोल-मेल वाले। यह प्रक्रिया अभी खत्म नहीं हुई है। अभी इसका चक्र हमारे सामने है। आख़िरी नतीजा निकलना शेष है। भविष्य खुला हुआ है।

हिन्दू मुसलमान अपने ढंग से इस टकराव का हल निकाल ही रहे थे कि बीच में फ़िरंगी साम्राज्य आ टपका। उसके बाद से एक और प्रक्रिया चल पड़ी। फ़िरंगी साम्राज्य के माध्यम से और उसके अनन्तर वह दिमागी माहौल बना जिसे हम 'पश्चिमी प्रभाव' कहते हैं। इस नयी प्रक्रिया की ध्वनि यह है कि साम्राज्यवाद, बुद्धिवाद, विज्ञान, उद्योगतन्त्र, आधुनिकता, और 'इतिहास की गति' के आगे धर्म एक पुरानी और वाहियात चीज हो गयी है। इस दिमागी उभार से हम परिचित हैं और इसका असर हमारे सोचने के ढंग पर पड़ रहा है।

ये दोनों प्रक्रियाएँ एक जैसी नहीं हैं। हमारे आज के जीवन में दोनों टकरा जाती हैं। कभी एक प्रक्रिया दूसरी को अपनी लपेट में ले लेती है, कभी दोनों विपरीत दिशाओं में चलती हैं। फलतः धर्मनिरपेक्षता को लेकर बड़ी-बड़ी उलझनें खड़ी हो जाती हैं, परिभाषा मुश्किल हो जाती है—यहाँ तक कि अवसरवाद और गाली-गलौज का बाजार गर्म हो जाता है। सामान्यतः हम कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत पहली प्रक्रिया के कुछ नतीजे चौदहवीं से अठारहवीं सदी तक निकले। दूसरी प्रक्रिया रानी विक्टोरिया के राज में आगे बढ़ी जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके वृत्त के लोगों ने नयी चाल की बातें कहना शुरू कीं।

दोनों प्रक्रियाओं के उलझाव को हम तर्क की दृष्टि से समझें। अगर सारी दुनिया में सिर्फ़ एक धर्म होता तो धर्मनिरपेक्षता का सिर्फ़ एक चेहरा बनता। क्योंकि तब सिर्फ़ एक प्रक्रिया, विज्ञान या आधुनिकतावाली, चलती। लेकिन ऐसा है नहीं। नतीजा होता है कि धर्मनिरपेक्षता के एक नहीं अनेक चेहरे हो जाते हैं और अक्सर एक दूसरे का मुँह चिढ़ाते हैं। तब क्या जितने धर्म हैं उतनी तरह की धर्मनिरपेक्षताएँ भी हैं ? जैसे, क्या हिन्दू धर्मनिरपेक्षता, मुस्लिम धर्मनिरपेक्षता, ईसाई धर्मनिरपेक्षता जैसी अलग-अलग चीजें हैं ? क्या इन शब्दों का, जो देखने में उलटबाँसी जैसे लगते हैं, कोई अर्थ है ? सिर्फ़ आधुनिकतावाली कसौटी पर जिन्ना साहब गाँधी जी के मुक़ाबले में धर्म-निरपेक्ष लग सकते हैं। कुछ उलटी खोपड़ी के लोग ऐसा कहनेवाले भी मिल जायेंगे। लेकिन गाँधी जी को हम क्या कहें—धर्मसापेक्ष या धर्मनिरपेक्ष ? फिर जिन्ना साहब को ? या जवाहरलाल को ?

असल में जब दो या अधिक धर्मों में टकराव होता है तो आदमी तर्कशः तीन धारणाएँ बना सकता है। पहली एक धर्म में सार है बाकी निस्सार

है। दूसरी, सभी धर्मों में सार है। तीसरी, सभी धर्म निस्सार है। पहली धारणा, अगर धर्मांध है तो अंतिम दोनों धर्मनिरपेक्ष होंगी। इसकी लंबी बहस करना यहाँ विषयांतर होगा। इन अंतिम दो धारणाओं में से पहली को हम समान दूरीवाली धर्मनिरपेक्षता कहेंगे। इस रुझानवाला आदमी उन तत्वों को पकड़ने की कोशिश करता है जिसके द्वारा वह सभी धर्मों से अपने को समान दूरी पर रख सके, या समान रिश्ते में बाँध सके। ऐसी कोशिश गाँधी जी की थी। दूसरी धारणा को हम समान निरर्थकतावाली धर्मनिरपेक्षता कह सकते हैं। ऐसा आदमी सिर्फ़ एक धर्म को नहीं, सभी धर्मों को व्यर्थ कहेगा। ऐसा नहीं कि सिर्फ़ मंदिर गिराये, मस्जिद के बारे में चुप रहे। या मस्जिद गिराये, मंदिर को टाल जाये। अब हम देख सकते हैं कि इन दोनों धारणाओं का नतीजा या उनका स्वरूप एक जैसा नहीं है। कभी ये एक दूसरे को खींचती हैं, कभी ठेलती है। इनमें से हर एक की अपनी अलग-अलग छटा है। हिन्दुस्तान में आज जिसे हम धर्मनिरपेक्षता की तरह महसूस करते हैं, या करना चाहते हैं, उसमें दोनों की मिली-जुली छटायें है और जैसा मैंने पहले कहा, इससे विचारों के धागे उलझ जाते हैं। बजाये इसके कि तर्क और परिभाषा के जरिये मैं इन धागों को सुलझाने की कोशिश करूँ, मैं आपके सामने हिंदी साहित्य के बड़े उतार-चढ़ाव को रखूंगा। क्या इस साहित्य पर दृष्टि डालने से हम अपने देश में उठनेवाले संकल्प-विकल्पों को बेहतर समझ सकते हैं। आशा करता हूँ, कि जैसे-जैसे बहस आगे बढ़ेगी, हम धर्मनिरपेक्षता की पहचान कर सकेंगे। अर्थात् बजाये घोड़े की परिभाषा देने के मैं कोशिश करूँगा कि तरह-तरह के घोड़े आपको दिखा कर, आपके मन में बैठा दूँ कि घोड़ा क्या चीज है। इस सिलसिले में हिन्दी के आस-पास के इलाकों में भी थोड़ी ताक-झाँक होगी, वैसे हमारा मुख्य विषय हिन्दी और उसका परिवेश ही है।

यह सर्वेक्षण उपयोगी तभी होगा जब पठानों और मुग़लों के काल मे हिंदी को क्या भूमिका अदा करनी पड़ी, उसके क्या स्रोत, सीमाएँ और सम्भावनाएँ थीं, इसे हम देखें। इस मध्यकाल का दबाव आज भी हम पर जीवित यथार्थ की तरह पड़ता है, चाहे हम अपने को कितना भी आधुनिक क्यों न कहें। उस काल में अपनेपन और परायेपन की जो अनुभूतियाँ हुईं, उसकी छाप हिंदी साहित्य पर पड़ी। कुछ दबाव थे जो हिंदू मुसलमान को जोड़ते थे। साथ-साथ तोड़ने वाले दबाव भी चलते थे। इन्हें अलग करना काफ़ी कठिन है।

पहले उन दिनों के चारों ओर हम साहित्यिक कल्पना का एक क्षितिज घेरें। खैबर दर्रे के उस पार से आनेवाले हमलावरों ने सिर्फ साम्राज्य ही नहीं बनाये। उन्होंने इस्लामी क्रान्ति का चक्र भी चलाया। हिन्दुस्तान सदा से ही अधूरी क्रान्तियोंवाला देश रहा है। तब भी रहा। ईरान की तरह हिन्दुस्तान में इस्लामी क्रान्ति समूची नहीं हो पायी। आज यह सोचना व्यर्थ है कि सारे भारत ने इस्लाम क़बूल कर लिया होता तो क्या होता। लेकिन खैबर के उस पार ईरान में ज़रूर एक मार्के की बात हुई। ईरान के इस्लामीकरण का काम मुहम्मद साहब के तीन चार सौ बरस बाद महमूद ग़ज़नवी तक चलता रहा। लेकिन महमूद ग़ज़नवी के पहले ही ईरान में राष्ट्रीयता की लहर उठने लगी, जिसने धर्म और राष्ट्रीयता में अलगाव करना शुरू कर दिया। इस्लाम-पूर्व राष्ट्रीय परम्परायें, गौरवगाथाएँ ईरानी साहित्य का अंग बनने लगीं। अरब ख़लीफ़ा उमर के सिपाहियों और सिपहसालारों ने नीति बना कर ईरान की पुरानी किताबें जलायीं और यादगारों को मिटाया। लेकिन राष्ट्रीयता दबी नहीं। अरब विजेताओं के सामने कवियों ने ईरान को इसके समूचे इतिहास के साथ डटा दिया। चौथी हिजरी शताब्दी के मध्य में अबूमंसूर दक़ीक़ी जैसा शायर मस्ती के साथ कहता है :

दक़ीक़ी चार ख़सलत बरगुज़ीद-अस्त

बगीती अज़ हमा ख़ूब व ज़िश्ती

लबे याक़ूत-रंगो, नालये-चंग

मये ख़ूं-रंगो केश-ज़र्देहिश्ती

(दक़ीक़ी, तमाम अच्छाइयों और बुराइयों समेत इस दुनिया में चार चीज़ें श्रेष्ठ हैं—याक़ूत के रंग वाले अधर, चंग का संगीत, ख़ून की तरह लाल शराब, और ज़रथुश्त्र का पंथ।)

दक़ीक़ी फ़िरदौसी से पहले हुआ। उसने शाहनामा लिखने की शुरुआत की। फ़िरदौसी का नाम सब जानते हैं। महमूद ग़ज़नवी का समकालीन था। फ़िरदौसी का शाहनामा इस्लाम-पूर्व ईरानी वीरों और राजाओं की गौरव-गाथा है। महमूद गज़नवी के दमन के बावजूद शाहनामा अमर हुआ। इतना ही नहीं, फ़िरदौसी की दृष्टि इस मामले में बिलकुल साफ़ है कि अरब विजेताओं के विरुद्ध लड़ाई, ईरान की राष्ट्रीय अतः धर्मनिरपेक्ष लड़ाई है जिसमें ईरान की समूची परम्परा को जीवित रखने की ज़रूरत है। फ़िरदौसी

अरब-प्रसूत इस्लाम को तो मानता है लेकिन अपनी प्रसिद्ध पंक्तियों में बेहिचक अपने देश के पुराने कयानी राजाओं की ओर खड़ा होता है :

बशीरे-शुतुर खुरदनो सूसमार
अरब रा बजाये रसीदस्त कार
कि तख्ते कयाँ रा कुनंद आरज़ू
तुफ़ू बरतू ऐ चर्खे गर्दां तुफ़ू !

(ऊँटनी का दूध पीकर और गोह खा-खा कर अरबों का यह हाल है कि कयानी सम्राटों के तख्त पर बैठने का सपना देख रहे हैं ? थुड़ी है, ऐ गर्दिश करने वाले आसमान, तुझ पर थुड़ी है ।)

क्यों ऐसा हुआ कि मुस्लिम भारत ने किसी भारतीय फ़िरदौसी को जन्म नहीं दिया ? इस दिशा में बहनेवाली हवाएँ दिखती हैं, हिन्दी ही नहीं, पंजाबी, कश्मीरी आदि अन्य बोलियों में भी लोकगाथाओं, गीतों, प्रेमाख्यानों, मिथकों ने मिलकर सृजनशक्ति को खुलापन और उभार ज़रूर दिया और बहुत-सी लुभावनी कथाएँ गायी गयीं । हीर-राँझा, सोहनी महींवाल, सस्सी-पुन्नो, पद्मावत । लेकिन कुछ ऐसा है जो निस्सीम उड़ान को रोकता है । लोक-संस्कृति से ऊपर एक हद के बाद ये रचनाएँ नहीं उठ पातीं । फ़िरदौसी और उसके शाहनामा के प्रवाह का मतलब सिर्फ दूर से झलकने वाली निर्मल, मोहिनी और चंचल लोकगाथा नहीं है । वह कुछ और है । वह एक ऐसा प्रामाणिक रचनाविधान है जो एक ही बहाव में लोक-संस्कृति और उच्च संस्कृति दोनों को इस तरह जोड़ देता है कि अंतर मिट जाता है :

मनम करदा—अम रुस्तमे दास्तां
वगरना यले बूद दर सीस्तां !

(मैंने उसे गाथा-पुरुष रुस्तम बना दिया, नहीं तो वह सीस्तान का एक पहलवान ही तो था ।)

बसे रंज बुरदम दरी साल सी
अजम ज़िंदा करदम बदीं पारसी ।

(इन तीस वर्षों में मैंने बड़े कष्ट उठाये, लेकिन अपनी इस फ़ारसी भाषा में मैंने ईरान को जीवित कर दिया ।)

इस तरह धर्मान्धता के सामने फ़िरदौसी ने बहुत पहले एक धर्मनिरपेक्ष समन्वय, राष्ट्रीयता की थरथराहट के साथ प्रस्तुत किया जिसके आगे महमूद

ग़ज़नवी जैसा कट्टर बादशाह भी छोटा पड़ गया। भारतीय मध्यकाल के उथलपुथलवाले समाज के सामने फ़िरदौसी का समन्वय, सम्भावना की तरह एक क्षितिज पर स्थित है।

दूसरे क्षितिज पर संस्कृत साहित्य है। बेशक उसकी जीवनी शक्ति का ह्रास हो गया था। लेकिन कुछ धुमैली कुछ प्रेरक कल्पना की भाँति संस्कृत साहित्य उपलब्ध ज़रूर था। जैसा कि अमीर खुसरो कहता है : 'मैंने इसकी एक बूंद चखी है और मालूम हुआ कि 'घाटी में खोया हुआ पक्षी महानदी के विस्तार से अब तक बिल्कुल वंचित रहा है।' संस्कृत साहित्य कुल मिलाकर धर्मनिरपेक्ष साहित्य है। कमनीयता, कीर्ति, प्रेम और मधुर मादकता से बनी हुई कालिदास की दुनिया मूलतः धर्मनिरपेक्ष दुनिया है। पराक्रमी पुरखों से लेकर आख़िरी क्षय तक कालिदास जिस तटस्थ भाव से समूचे रघुवंश की तसवीर हमारे सामने रखते हैं वह न केवल धर्मनिरपेक्ष है बल्कि कुछ हद तक नीति-निरपेक्ष भी लगती है। यह दूसरा क्षितिज है। फ़िरदौसी और कालिदास दोनों मध्यकाल में दूर पर झलकते है, सम्भावना की तरह और बीच के मैदान में हिंदी-भाषी उत्तर भारत का काव्य जन्म लेता है।

लेकिन इन दूरस्थ सम्भावनाओं को छोड़कर हम आस-पास की ज़मीन को देखें। दो दूसरे तत्त्व दिखते हैं। एक तो लोक-भाषा। आरम्भ में इस लोकभाषा के अलग-अलग स्थानीय रंग हैं। बाद में अकबर के काल के अनंतर सब के बीच से एक परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा उभरती है—ब्रजभाषा। लगभग तीन शताब्दियों तक यह भाषा चली। पहले तो हिंदू मुसलमान सब की चहेती होकर। आगे चलकर उर्दू उठती है और इस एकतान माध्यम के दो टुकड़े हो जाते हैं। ब्रजभाषा का सम्बन्ध देश की मिट्टी से बराबर बना रहता है। सदियों के प्रवाह ने उसे एक ऐसी अद्भुत शक्ति दे दी है कि क्या फ़ारसी क्या संस्कृत हर एक के शब्दों को तोड़कर अपनी लय के अनुरूप बदल देती है। कुछ भी शुद्ध या तत्सम नहीं बचता। यह भाषा की एक तरह की प्रभुत्वसम्पन्नता है। इस लिहाज़ से आज की हिन्दी ब्रज की तुलना में कम प्रभुत्वसम्पन्न है।

लेकिन ब्रजभाषा राजभाषा नहीं है। राजभाषा के रूप में एक विदेशी भाषा फ़ारसी का बोलबाला है। विदेशी राजभाषा लोकभाषा को नीचे दबाती है, उसके पंख कतरती है। फ़ारसी हिन्दुस्तान में हिंदू मुसलमान किसी की मातृभाषा नहीं है। राजपूतनियों के गर्भ से जन्मे मुस्लिम राजकुमारों की भी

नहीं। हिन्दू मुसलमान दोनों को फ़ारसी कोशिश करके सीखनी पड़ती है। बीच-बीच में ईरान से जो लोग यश और पैसे के लिए बराबर आते रहते है, फ़ारसी उनकी ही भाषा है। दशा लगभग वैसी ही है जैसी आज के भारत में अंग्रेज़ी के मुकाबले राष्ट्रीय भाषाओं की है। अतः थोड़ी-सी कल्पना से हम जायसी, तुलसी, रहीम, बिहारी, देव आदि की परिस्थिति का अनुमान लगा सकते हैं। यह परिस्थिति दूसरा प्रभावी तत्त्व है।

इस आँच में ब्रजभाषा का घोल तैयार होता है। इतनी विभिन्नता और टकराव के बावजूद यह घोल बना यही मार्के की बात है। हिन्दी भाषी-प्रदेश में आगे चल कर टूट हुई। इस टूट को समझना भी आवश्यक है। वैसे तो हिन्दुस्तान भर में लोक-भाषा के आधार पर हिन्दू मुसलमान एक जगह मिले। नया साहित्यिक प्रकाश लगभग सभी जगह मुस्लिम राज में ही फूटा। रिश्तों में तनाव और लगाव दोनों पैदा हुए। लेकिन किसी भाषा में उत्तर की तरह दो टुकड़े नहीं हुए। और यह दरार भी अठारहवीं सदी के बाद ही कार-गर हुई, जब मुग़ल साम्राज्य गिर रहा था। ऐसा क्यों हुआ कि संस्कृत और फ़ारसी की अपनी आंतरिक धर्मनिरपेक्ष परम्पराओं के बावजूद आगे चलकर हिन्दी-उर्दू विवाद में धर्मान्धता की अनुगूंजें पैदा हुई? दीखता यह है कि ब्रज-भाषा जन्म के साथ समन्वय की ओर झुकी और उसकी प्रकृति इस प्रयास के साथ बदली। इसके विपरीत उर्दू में कटाव पैदा करनेवाले तत्त्वों का प्रति-निधित्व था। वे तत्त्व किस तरह के थे?

उर्दू के प्रथम वरिष्ठ कवियों में से एक, सौदा, का शेर है :

> गर हो कशिशे शाहे ख़ुरासान तो सौदा,
> सिजदा न करूँ हिन्द की नापाक ज़मीं पर।

(अगर ख़ुरासान के शाह मुझे अपनी ओर खींचें, तो मैं हिन्द की नापाक भूमि पर प्रार्थना के लिए भी सर न झुकाऊँ।)

सौदा की यह मनःस्थिति उर्दू कविता की सामान्य मनोभूमि नहीं है, वैसे धर्मान्धता के रंग सौदा में कहीं-कहीं खासे गाढ़े हो गये हैं। फिर भी ख़ुद सौदा की यह सामान्य मनोभूमि नहीं है। लेकिन आत्मा के भीतर जिस फाँक की झलक यहाँ मिलती है वह बेचैन करनेवाली है। धर्म, ईरानियत, मूल्यों का विघटन, टूटते हुए 'बादसा बंस की ठसक' की कुंठा (जिसे रसखान ने यों ही उतार फेंका था), मन का बेगानापन, और बहुत से अन्य भावानुभाव यहाँ

गड्डमड्ड हो गये है। कैसे यह हुआ ? सौदा से लगभग पाँच सौ बरस पहले खुरासान, तातार, इराक सबके ऊपर हिन्दुस्तान का डंका पीटनेवाला एक और कवि हुआ था। था वह मुख्यतः फ़ारसी का कवि लेकिन उसका नाम सभी हिन्दीभाषी जानते हैं—अमीर खुसरो, वही पहेलियों, मुकरियों, अनमिल बेजोड़वाला खुसरो। (कितने लोग जानते हैं कि सौदा ने भी हिन्दी मे अच्छी खासी पहेलियाँ लिखी है ?) हिन्दुस्तान को सबके ऊपर श्रेष्ठ घोषित करने के बाद खुसरो कहता है :

मुद्दई गर जनदीं ताना मरा कज़ पये हिन्दीं हमा तरजीह चेरा
दो सबबम बाइसे ईं कार शुदा कां दो सबब हुज्जते गुफ़तार शुदा
आनस्त यके कीं ज़मीं अज़दौरे ज़मन हस्त मरा मूलि दो मावायो वतन
वीं ज़ रसूल आमदा कै जुमरये दीं हुब्बे वतन हस्त ज़ ईमां ब यकी
मन हदे खुद करदमज़ीं रूये अलम गर वतने हस्त तुरा गोये तू हम
दुवुमश आं कीं ज़मीं अज़ कुत्बे ज़माँ हस्त चू राजेह ज़ हमा मुल्के जहाँ

(अगर प्रतिपक्षी मुझे ताना मारे कि हिन्दुस्तान को मैं क्यों इतनी तरजीह देता हूँ, तो दो कारण बता सकता हूँ। एक तो यह कि यह मेरी जन्मभूमि है, मेरा ठिकाना है, वतन है। और रसूल ने यह कहा है कि ऐ दीनवालो देश-भक्ति निश्चय ही ईमान की चीज़ है। अतः मैंने तो अपने देश का झण्डा गाडा, अगर तेरे पास वतन हो तो तू भी गाड़। दूसरा कारण यह कि उत्तरी ध्रुव से लेकर दक्षिणी ध्रुव तक सचमुच यह देश सारे संसार से श्रेष्ठ है।)

इसके बाद खुसरो ने दस कारण गिनाये है कि क्यों हिन्दुस्तान दुनिया का बहिश्त है और सात कारण इसलिए कि क्यों खुरासान हिन्दुस्तान के आगे हेच है।

हिन्द की 'नापाक' ज़मीं बनाम खुरासान के मामले में खुसरो तो उर्दू कवि सौदा से पाँच सौ बरस लगभग पहले का है। लोकभाषा पंजाबी के सूफी कवि अली हैदर का एक उद्धरण ज़्यादा सटीक है। अली हैदर का ज़माना सौदा के आसपास का ही है, जब अहमदशाह अब्दाली की लूट चल रही थी

भी जैहर नहीं जो खा मरन कुझ शरम नां हिन्दुस्तानियाँ नूँ
क्या-क्या एहना राजियाँ नू कुझ लज्ज नहीं तूरानियाँ नूँ
भेड़े भर-भर देवन खज़ाने फारसियाँ खुरासानियाँ नूँ
छौनियाँ दे विच्च पाणी तक्क बधो जे लहू न वेदियाँ पाणियाँ नूँ।

(ज़हर भी नहीं है जो खाकर मर जायें, हिन्दुस्तानियों को कोई शरम नहीं है। इन राजाओं को कोई हया नहीं है, न तूरानियों में लज्जा है, फारसियों और खुरासानियों को भर-भर कर ख़ज़ाने दे रहे हैं। इन ईरानियों के लिए तो छावनियों में पानी तक बाँध कर रख दिया गया है और हमारे लिए लहू के सिवा पीने को कुछ नहीं है)।

देश और विदेश के इस टकराव का एक पहलू एक किस्से से उजागर होता है। कहा जाता है कि फ़ारसी कवि शेख अली हज़ीं ईरान से दिल्ली आये। दिल्ली के तमाम कवि उनसे मिलने गये, जिस तरह आज गोरी दुनिया से आने वाले 'बुद्धिजीवी' के गिर्द दिल्ली के 'बुद्धिजीवी' घिरते हैं। उनमें से एक सौदा भी थे। सौदा ने अपना एक शेर उन्हें सुनाया। फ़ारसी में अनुवाद किया गया। कहते हैं कि फ़ारसी कवि ने कुछ शाबाशी के लहजे में कहा :

'दर पोच गोयाने-हिन्द बद नीस्ती'

(हिन्दुस्तान के बकवास करनेवालों में बुरे नहीं हो)

मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने अपने उर्दू साहित्य के तज़किरे 'आबे हयात' की शुरुआत ही इससे की है कि सब जानते हैं कि उर्दू ज़बान ब्रजभाषा से निकली। आखिर वह क्या चीज़ है जो शेख अली हज़ीं को समूची भारतीय कविता के बारे में इस तरह का नकचढ़ा रवैया दिखाने की हिम्मत देती है ? और इसकी पैरवी करने दिल्ली के शायर जाते हैं ? इस तरह की रिवायतें फैलती ही क्यों हैं ? वह शेख़ अली हज़ीं वही हैं जिनकी किताब 'अहवाले हज़ीं' बक़ौल 'डॉ० शेख़ चांद' अपने वक्त की 'मदर-इण्डिया' है।'

हम देखते हैं कि तराज़ू का पलड़ा ज़रा सा झुकता है और धर्मनिरपेक्षता का वज़न धर्मान्धता यहाँ तक कि सांप्रदायिकता में बदलने लगता है। महीन सीमा रेखा मिटने लगती है। पूरी उर्दू कविता और बाद के उर्दू साहित्य में झुकाव और कटाव का लेन देन किन समस्याओं को जन्म देता है और उन्हें हल करने में साहित्य में कैसी धाराएँ बनती बिगड़ती हैं, इसका जायज़ा इस लेख के विषय से बाहर है। हिन्दी के परिवेश के लिए एक संकेत भर दिया। मगर इस झुकाव का स्रोत कहाँ है इसको दिखाने के लिए एक और तस्वीर बांगला देश से प्रस्तुत करूँगा।

हिन्दू मुसलमान टकराव को लेकर बंगला भाषा हिन्दी उर्दू की तरह दो टुकड़ों में नहीं बँटी। एक ही भाषा से हिन्दू मुसलमान दोनों का काम चला। इस एकता ने बंगला साहित्य को एक विशेष स्वाद दिया। लेकिन तनाव पैदा

हुए और पैदा किये गये। पूर्वी बंगाल की जो यातना रही है, उससे हम कुछ रोशनी पा सकते हैं। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने लिखा है कि एक समय मे उन्हें बंगाल में ऐसे अनभिज्ञ और अनपढ़ मुसलमान मिले जो उर्दू को 'आमार नबीर जबान' कह कर खुश होते थे। नितांत विचारमूढ़ता के उस काल से लेकर अब तक लम्बी कहानी बीत चुकी है। इस कहानी में टकराव, तनाव, अंधकार, प्रकाश, समन्वित मनोभूमि का हठी आग्रह, इस सब की गाथा है। अर्से तक इस बात की कोशिश होती रही कि मुस्लिम बंगला के लिए एक अलग इतिहास गढ़ा जाये जिसमें सिर्फ मुसलमान बंगला लेखकों का इतिवृत्त हो। जोश से भरे हुए लोगों ने धर्मनिरपेक्ष नजरूल इस्लाम के भी परखचे उड़ाये। ऐसे इतिवृत्त और आलोचना की किताबें भी लिखी गयीं। लेकिन इस प्रवृत्ति के विरोधी भी पूर्वी बंगाल में जन्मे। पहले दबे-दबे, बाद में तेज। टकराव और प्रतिटकराव की अवस्था की एक मजिल ढाका में 1957 में हुई एक विचारगोष्ठी में दिखती है। राजशाही विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग के प्रो० ज़िल्लुर्रेहमान सिद्दीक़ी ने उस परिगोष्ठी में अपना मुख्य निबंध पढ़ा था। लगभग चुनौती के स्वर में प्रो० सिद्दीकी कहते हैं।

"पूर्वी पाकिस्तान का साहित्यिक तनाव इसी एक प्रश्न को लेकर है: हमारी परम्परा क्या है, या क्या होनी चाहिए ? एक वर्ग का लगाव इस्लामी-साहित्य परम्परा के साथ है, और दूसरे वर्ग का लगाव सिर्फ बंगाल की परम्परा के साथ, पहली परम्परा भाषाई और राष्ट्रीय सीमाओं से आगे निकल जाती है और इतिहास के बड़े फैलाव को अपनी लपेट में ले लेती है जबकि दूसरी परम्परा देशकाल की दृष्टि से ज्यादा सीमित है और उसकी चौहद्दी अच्छी तरह खिंची हुई है। पहली परम्परा का आग्रह विषय-वस्तु पर है और दूसरी परम्परा का आग्रह रूप-विधान पर है।"

यहाँ भी तराजू के पलड़े का झुकाव हम देख सकते हैं। मजे की बात यह है कि प्रोफेसर सिद्दीक़ी की इच्छा है कि इस इस्लामी परम्परा का गर्भाधान पश्चिम की इलियट-पाउण्ड की आधुनिकता से किया जाये। यहाँ हम देख रहे हैं कि पश्चिमी 'आधुनिकतावाद' और धर्मार्थ निखिल-इस्लामवाद गले मिल रहे हैं। शर्त है कि समूची बंगला को पहले दो टुकड़ों में जरूर बाँट दिया जाये। यहाँ यह सवाल तो उठता ही है कि यह इस्लामी साहित्य परम्परा कौन-सी है ? दक़ीक़ी और फ़िरदौसी की या राजस्तुति गानेवाले अनवरी की जो क़सीदा लिखते-लिखते ऊब कर कहता है 'शायरी से अच्छा काम तो भंगी का है। शायर सिर्फ़ पैसे के लिए झूठ बोलता है। भंगी कम

से कम समाज के लिए उपयोगी तो है' ? 'मदर इण्डिया' वाले शेख़ अली हज़ीं की, या अमीर खुसरो की जो कहता है "अगर मैं अरबी और तुर्की और फ़ारसी पर घमण्ड करूँ तो मेरे लिए बेहूदा बात है। चूँकि मैं हिन्दुस्तान का हूँ इसलिए यही ठीक है कि मैं अपने देश की भाषा के बारे में कहूँ। इस देश में सिंधी, लाहौरी, कश्मीरी, तेलुगु, बंगला, गुजराती, अवधी आदि भाषाएँ हैं। ये सब हिन्दुस्तानी हैं जो किसी की ऋणी नहीं हैं···"।

लेकिन इस सवाल को यहीं छोड़कर मैं डॉ० सिद्दीकी की बात में एक सैद्धान्तिक उलझाव की ओर संकेत करूँगा जिसका सम्बन्ध 'परम्परा' की तलाश से है। किसी रचनात्मक अनुभव को परम्परा के साँचे में ढालने का मतलब है उसे इतिहास की गति में ढालकर देखना। इतिहास की अनुभूति मूलतः धर्म अनुभूति से भिन्न है या यों कहें कि गहरे जाकर इतिहास-अनुभूति धर्मनिरपेक्ष हो जाती है। होता यह है कि परम्परा को परिभाषित करते समय अक्सर इस अनुभूति पर धर्मवाद की अमरबेल चढ़ायी जाती है। इस्लामी-साहित्य-परम्परा ऐसी ही अमरबेल है। लेकिन इन तत्त्वों को कैसे अलग किया जाये ? आधुनिक बंगला का सौभाग्य है कि उसके उन्नायकों में ईसाई माइकेल मधुसूदन दत्त, हिन्दू रवीन्द्रनाथ और मुसलमान नज़रूल इस्लाम साथ-साथ सक्रिय हैं। फिर भी जिस तनाव को 1957 में डॉ० सिद्दीकी देख रहे है, उस के रोंगटे खड़े करनेवाले नाटक के कुछ अन्तिम दृश्य हम आज बंगलादेश में देख रहे हैं। खून और आँसुओं से भरे हुए दृश्य। अपनी-अपनी अलग परम्पराओं की तलाश में धर्मान्ध और धर्मनिरपेक्ष अनुभूतियाँ टकराती हैं और समन्वय और अलगाव की आँधियाँ चलती हैं। पता नहीं डॉ० सिद्दीकी आज के वात्याचक्र में कहाँ हैं। बाँगला देश से आये हुए कुछ प्रोफ़ेसरों से हाल में पूछा तो उन्होंने इतना ही बताया कि प्रो० सिद्दीकी पहले तो छिपे रहे। फिर पाकिस्तानी फौजियों ने उन्हें भरोसा दिलाकर राजशाही विश्वविद्यालय बुलाया और अफ़वाह है कि वहाँ उन्हें गोली मार दी गयी। बंगाली आखिरकार बंगाली ! सुनकर इस्लाम की एक और परम्परा याद आयी—उमैयद खली-फाओं के ज़माने की जिस समय अरबों के अलावा बाकी सब मुसलमान मुवाली कहलाते थे। ख़लीफ़ा यहिया खाँ के आगे मुवाली आख़िरकार मुवाली।

सांस्कृतिक परिवर्तन में पश्चिमवाद की कसौटी

भारतीय सन्दर्भ में सांस्कृतिक परिवर्तन को आँकने के लिए पश्चिमवाद किस हद तक और किन अर्थों में संगत कसौटी है ?

पश्चिमवाद हमारे यहाँ अनेक स्तरों पर अभिव्यक्त होता है। वेशभूषा और खानपान में, सामाजिक व्यवहार और आचरण में, राजनीति में (सरकारी कामकाज के लिए अंग्रेजी का प्रयोग), प्रौद्योगिकी और औद्योगीकरण में तथा बौद्धिक रुचियों एवं रुझानों में, और यह सब अधिकांशतः ब्रितानी आधिपत्य का प्रतिफल है जैसे कि इस्लामीकरण की प्रचुरता इस्लाम के आधिपत्य का परिणाम थी। साथ ही यह भी मान लिया गया है कि आधुनिकता और प्रगति के सन्दर्भ में पश्चिम की संस्कृति और सभ्यता श्रेष्ठतर है। एक अन्य बहुप्रचलित धारणा यह है कि पिछली कुछ शताब्दियों से भारतीय संस्कृति स्थिर और परिवर्तनहीन रही है। अगर कोई परिवर्तन हुआ भी है तो वह सतही रहा है। मान लिया गया है कि वास्तविक परिवर्तन तो तभी घटित हुआ है जब भारत में पश्चिम की जयी दुंदुभी गूँजी है। संक्षेप में सांस्कृतिक परिवर्तन की कसौटी के रूप में पश्चिमवाद से मेरा यही तात्पर्य है। मार्क्स जैसे विचारक ने भी इस धारणा को सही माना है।

इस प्रकार पश्चिमवाद को न केवल एक कसौटी के रूप में एवं परिवर्तन के रूप में एक माध्यम के रूप में भी स्वीकार किया जाता है। और इसके आगे का ही कदम यह है कि यही एक मात्र माध्यम है।

इस तर्क में यह भी निहित है कि सभी परिवर्तन हमें आधुनिक की ओर नहीं ले जाते। भारतीय इतिहास के सभी कालों में परिवर्तन घटित हुए हैं और कभी-कभी ऐसे भी कि भोक्ता को जीवन और मृत्यु जैसी अनुभूति दे गये हैं, परन्तु पश्चिमवाद की कसौटी के अनुसार वे हेय या सीमित दायरे के परिवर्तन रहे हैं जो इस धारणा को नहीं झुठलाते हैं कि भारतीय समाज पिछली शताब्दियों से स्थिर समाज रहा है। लेकिन अंग्रेजी राज जाने के बाद पश्चिम के प्रभाव से हुए परिवर्तन गुणात्मकतः भिन्न हैं। उनसे परिवर्तन की एक नयी

शृंखला शुरू होती है। वे इतिहास के महासागर की धारायें और तरंगें नहीं है। वे तो जलस्तर का ही आरोहण हैं।

दूसरे शब्दों में ऐतिहासिक घटनाएँ भले ही समान दीखती हो यदि उन पर पश्चिम की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष छाप है तो वे पूर्णतयः एक पृथक वर्ग में गिनी जाती हैं। शिव से विष्णु की उपासना तक संक्रमण एक काफ़ी बड़ा परिवर्तन माना जाना चाहिए। जैसे कि रोमन देवताओं से ईसा मसीह तक का संक्रमण था। लेकिन पाश्चात्य दृष्टिकोण मानता है कि राजा राममोहन-राय द्वारा वेदान्त और ईसाइयत के समन्वय का प्रयास, तुलसीदास द्वारा रामोपासकों, शैवों तथा अन्य संप्रदायों के समन्वय के प्रयास से गुणात्मकतः भिन्न है। पश्चिमवाद इसी भिन्नता को प्रतीति देता है। द्रष्टव्य सांस्कृतिक परिवर्तन भोक्ता की संवेदना की तीव्रता अथवा व्यापकता द्वारा निर्दिष्ट नहीं होता। वह पश्चिम के प्रभाव द्वारा होता है। निष्कर्षतः पश्चिमवाद न केवल एक कसौटी है बल्कि एकमात्र कसौटी है, वह न केवल एक माध्यम है, बल्कि एक मात्र माध्यम है।

कसौटी के रूप में पश्चिमवाद विशिष्ट परिवर्तनों के सम्बन्ध में मूल्य निर्णय विकसित करता है। माध्यम के रूप में यह आधुनिकता एवं परम्परा के बीच द्विध्रुवीय संघर्ष उकसाता है और एक मात्र माध्यम के रूप में वह इतिहास की मान्यताओं के सन्दर्भ में समाज के समग्र दिग्दर्शन के परिप्रेक्ष्यों को जन्म देता है जैसा कि एक लेखक ने लिखा है, भारतीय अध्यात्मवाद की अत्यधिक सराहना और पाश्चात्य यथार्थवाद की निन्दा पश्चिम के प्रवेश को उसी प्रकार नहीं रोक सकी जैसे शाह कन्यूट का आदेश सागर की लहरों को। वस्तुतः पश्चिमवाद की धारणा के लिए यह सागर की लहरोंवाली अनिवार्यता बड़ी जरूरी है वह न जो इस देश में आए वह न हो तो लगेगा कि पश्चिमवाद उन सम्प्रदायों जैसा और मुरझा जाये। वह हो तो पश्चिमवाद एक सम्प्रदाय न होकर एक दृष्टि बनेगा।

लेकिन यह एक विशुद्ध दृष्टि नहीं है। जैसा कि कवियों और दार्शनिकों की होती है। वह विश्व के एक भाग की ऐतिहासिक यथार्थता है दूसरे भाग के लिए भविष्य की वांछनीयता है। इसे हम पश्चिमवाद को ऐहिक मिथक कह सकते हैं। जिससे ऐसे कथ्यों को सार्थक सिद्ध किया जा सके : "भारत को एक ऐसा देश कहा जा सकता है जो असमान मंजिलों से एक र गुज़रता हुआ पाँचवीं से बीसवीं शताब्दी तक की यात्रा कर रहा है"।

जार्ज आरविल के शब्दों में हम इसे यों भी कह सकते हैं कि विश्व के सभी क्षेत्र बीसवीं सदी हैं। परन्तु कुछ औरों से अधिक बीसवीं सदी है। पश्चिमवादी सार्वभौमिता पर जोर देते हुए बात शुरू करता है। लेकिन वस्तुत: वह सार्वभौमिकता को नकारता है। उसकी दृष्टि की तह में शून्य है। इसी में विरोधाभास दम्भ और हीनताओं की सृष्टि होती है। एडवर्ड शिल्स तथा अन्य लेखकों ने इन्हे वैयक्तिक विकास कह कर पश्चिमवादी दृष्टि की रक्षा करने का प्रयास किया है।

अगर सांस्कृतिक नीति को रचनात्मक होना है तो उसकी एक दृष्टि होनी चाहिए। क्या चकाचौंधवाली पाश्चात्य दृष्टि अथवा ऐहिक मिथक इस नीति के निर्धारण में समर्थ है ? इस दृष्टि के फलितार्थ क्या है ? इसे समझने के लिए एच० जी० रालिन्स की पुस्तकें "आधुनिक भारत और पश्चिम" से एक उद्धरण देना संगत होगा। "वर्तमान शताब्दी में विचारधारा कई दिशाओ मे प्रवाहित हुई है। परिवर्तन इतने बहुरंगी विविध और तीव्र हुए हैं कि उनके ाथ चलना कठिन हो गया है लेकिन मुख्यत: दो विचारधाराएँ पायी जाती है। क तो पश्चिमी सभ्यता की विरोधी और प्रतिगामी हैं और दूसरी प्रगतिशील एवं पश्चिम के प्रति संवेदनशील। पहिली विचारधारावाले नहीं मानना चाहते कि भारतीय संस्कृति आदर्श नही है। वे आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता को 'मानिकारक मानते है जो आध्यात्मिक मूल्यों में गिरावट लाती है। इस विचारधारा के मुख्य पोषक हैं महात्मा गाँधी"।

उक्त उद्धरण से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

क — पश्चिमी समाज गत्यात्मक है।

ख—-भारतीय समाज स्थिर है।

ग—पश्चिम की गत्यात्मकता सार्वभौम है अर्थात् वह शेष विश्व के लिए जो स्थिर है संगत है।

घ—स्थिरिता पर गत्यात्मकता की छाप से समग्र द्विध्रुवीय संघर्ष का जन्म होता है एक ध्रुव प्रगतिवादी अथवा आधुनिकता वादी का है दूसरा प्रगतिगामी अथवा प्रतिक्रियावादी का तीसरा ध्रुव सम्भव ही नहीं है।

ङ—किसी व्यक्ति की सांस्कृतिक स्थिति उसके पश्चिम के प्रति दृष्टि-कोण द्वारा निर्दिष्ट होती है। यदि वह पश्चिम का विरोधी है तो वह गति का विरोधी है अत प्रतिगामी है यदि वह पश्चिम की

हवाओं के प्रति संवेदनशील है तो वह गत्यात्मकता, अतः प्रगति के साथ है ।

च – गाँधी पश्चिम के विरोध के मुख्य पोषक अतः प्रतिगामी थे ।

(मेरे लिए यह कह सकना कठिन है कि अधिक जड़ और आत्मतुष्ट कौन है—भारतीय परम्परावादी जो नहीं मानता कि भारतीय संस्कृति आदर्श से कुछ कम है । या अन्ध आधुनिकतावादी जो मानता है कि पश्चिमी गत्यात्मकता ही एक मात्र सम्भव गत्यात्मकता है ।)

उपर्युक्त तार्किकता पर विचार करने के दो तरीके हो सकते हैं एक तो यह कि हम सिद्ध करें कि गाँधी जी पश्चिमी सभ्यता के विरोधी नहीं थे अथवा यह कि वह पश्चिम से बहनेवाली हवाओं के प्रति संवेदनशील थे । इससे गाँधी जी की मानरक्षा तो शायद हो जाती है लेकिन रालिसन के स्वयंसिद्ध कथ्यो की सत्यता स्वीकार करने के बाद ही ।

हमारे यहाँ संस्कृति के नये रूपों के अन्वेषी अधिकांश बौद्धिकों को सास्कृतिक संकट इसी प्रकार का द्विध्रुवीय संकट प्रतीत होता है । भले ही वे पश्चिमवाद की जगह आधुनिकतावाद बीसवीं सदी वैकल्पिक शब्दों को ग्रहण करें । और पश्चिमवाद के विरोध के लिए परम्परावाद पुनरुत्थानवाद, पुरातनवाद आदि को अपनायें ।

दूसरा तरीका यह है कि गाँधी जी को उस रूप में स्वीकार किया जाये जो ये थे अर्थात् प्रत्यक्षतः गत्यात्मक और समय संगत तथा मूल स्थापनाओ को चुनौती दी जाये । इससे ऐसे तीसरे ध्रुव की खोज अनिवार्य हो जाती है जो आधुनिकता और परम्परा दोनों का ही आलोचक है । आज के भारत मे ऐसे ध्रुव की खोज बड़ी ही कष्टदायी और निरर्थक सिद्ध होती है । और क्या तीसरा ध्रुव सचमुच आवश्यक है ?

दूसरे शब्दों में क्या हम पाश्चात्य कसौटी को उसके सभी फलितार्थों के साथ स्वीकार करने के लिए तैयार हैं अथवा क्या कोई सीमा है जिससे आगे तैयार नहीं हैं । सीमा के सन्दर्भ में यह सवाल उठता है कि क्या हम पूर्णतः पश्चिमवादी नहीं होना चाहते । यदि पश्चिमवाद प्रगति के पर्याय हैं तो पूर्ण पश्चिमवाद पूर्ण प्रगति है । अतः क्या हानि है अगर भारतीय संस्कृति की निरन्तरता और स्वरूप को पश्चिमी तौर-तरीके और रीतिनीति पूर्णतः हजम कर लें ? अगर हमारी संस्कृति की निरंतरता और स्वरूप गत्यात्मक नही है तो उसके अस्तित्व की क्या सार्थकता है ?

लेकिन कोई चाहे कितना ही आधुनिक या पश्चिम प्रेमी क्यों न बने इस सम्भावना से यह झिझकेगा ही और कहेगा ही कि इस प्रकार का परिवर्तन न तो सम्भव है न वाञ्छनीय ? प्रश्न है कि आखिर क्यों नहीं ?

इस क्यों नहीं के उत्तर में कहा जाता है कि किसी भी देश की संस्कृति किसी अन्य देश पर समग्रतः प्रतिरोपित नहीं किया जा सकता। अथवा कोई भी संस्कृति कभी मरती नहीं। यह कविता अथवा पुनुरुत्थानवादी काव्य स्वर हो सकते हैं कठिनाई यह है कि आधुनिकतावादी किसी भी अतिवादी वचार से बचना चाहता है। परन्तु इतिहास में ऐसे सम्पूर्ण प्रतिरोपण के कितने ही उदाहरण मिलते हैं। जैसे अमेरिका में, यूरोपीय संस्कृति और स्वयं यूरोप में ईसाइयत का प्रतिरोपण। फ़ारस में इस्लाम के उत्थान के साथ अपने संस्कृति के प्राचीन नैरंतर्य और अस्तित्व को खत्म करके आखिर क्या खोया ? सच तो यह है कि संस्कृति खत्म हो सकती है, उसका प्रतिरोपण हो सकता है और विजेताओं द्वारा उसे किसी भी हद तक बदला जा सकता है। प्रश्न केवल कीमत चुकाने अथवा अपेक्षित समय का है, यदि कुछ संस्कृतियाँ बची रह जा सकती हैं तो इसलिए नहीं कि संस्कृति के रक्षण से सम्बद्ध कोई अटल नियम है बल्कि इसलिए कि शाह कैन्यूट होते हैं जो आदेश देते रहते है कि लहरे रुक जायें अगर उनकी इच्छा शक्ति खत्म की जा सके और उन्हें कुचला जा सके, जैसे कि अमरीकी इण्डियनों के मामले में हुआ। तो सम्भावना यही है कि इतिहासकार और प्रगति के पक्षधर सांस्कृतिक प्रतिरोपण को सम्भव भी कर देंगे और वाञ्छनीय भी। लेकिन सच यह है कि पश्चिम यह कदम उठाने के लिए तैयार नहीं है। पश्चिम नहीं चाहता कि उसका कोई गत्यात्मक जोड़ीदार हो।

इस प्रकार आधुनिकतावादी और परम्परावादी आधे रास्ते मिल जाते है। इनसे न केवल दृष्टि को क्षति पहुँचती है बल्कि पाश्चात्य निष्कर्ष सिद्धात-विहीन व्यावहारिकता बन जाता है।

जहाँ तक पुनरुत्थानवादी का प्रश्न है कहा यह जाता है कि वह समय की धारा को पीछे मोड़ना चाहता है। परन्तु यह सच नहीं है। पुनुरुत्थानवादी वर्तमान के कुछ परिवर्तनों का तो विरोध करता है और कुछ अन्य क्षेत्रों के बारे में आधुनिकतावादी के साथ रहना चाहता है। वह भी देश को आगे बढ़ाना चाहता है लेकिन उसका स्वप्नदेश न्यूयार्क या मास्को न होकर प्राचीन

भारत है। वह भी द्विध्रुवीय संघर्ष का आभास देकर आधुनिकता की ओर अपने रुझान दिखाना चाहता है। इस प्रकार प्रगतिवादिता और प्रतिगामिता के बीच की सीमा रेखा समाप्त होने लगती है और पाश्चात्य कसौटी सिद्धान्तविहीन व्यावहारिकता बन जाती है। इसी का परिणाम यह होता है कि प्रगतिशील प्रधानमंत्री के चुनाव के दौरान रुद्राक्ष की माला पहिन कर देवदर्शन करने जाते हैं। बाँधों और पुलों की नींव रखने के लिए ज्योतिषियों से शुभघड़ी पूछी जाती है। और प्रतिक्रियावादी प्रतिपक्षी नेता प्रगतिशील रकार द्वारा गाँवों में बिजली लगाने के कार्यक्रम में असफलता की आलोचना रता है। अभी तक मुझे ऐसे परम्परावादी से मिलने की उत्सुकता है (गाँधी भी) जो रेल व्यवस्था को उखाड़ फेंकना चाहता है अथवा ऐसे प्रगतिशील धुनिकतावादी से (कम्युनिस्ट से भी) जो किसी सड़क या रेल पथ पर पड़ने वाले मन्दिर या मस्जिद को हटवा सके।

इसी प्रकार की सिद्धान्तहीन व्यावहारिकता का यह नतीजा होता है कि जब हिन्दू मुसलमान और दूसरे वर्गों के सन्दर्भ में सांस्कृतिक नीतियों का विरोधाभास उजागर हो जाता है। एक आधुनिकतावादी हिन्दी शास्त्रों का विरोध तो वैज्ञानिक दृष्टिकोणों के नाम पर करता है लेकिन मुस्लिम समाज के ढाँचे में परिवर्तन का सवाल उठने पर मुस्लिम शास्त्रों का विरोध करने का साहस नहीं बटोर पाता। मुसलमानों में जातीय क़ानून में परिवर्तन की माँग करने वाले को प्रतिगामी क़रार दिया जाता है। ब्राह्मणवाद तो आलोचना का विषय बन जाता है लेकिन मुल्लावाद के खिलाफ कोई आवाज़ नहीं उठाता। दूसरे शब्दों में आज का प्रगतिवादी प्रतिक्रियावादियों की हठधर्मिता से समझौता करने को तैयार रहता है। फिर द्विध्रुवीय संघर्ष कहाँ रहा ? अन्तिम विश्लेषण में बदलते हुए अतीत का सामना अवसरवादी वर्तमान से ही होता है। अत दृष्टि जो समाज के लिए भविष्य का परिवेश प्रस्तुत करती है मुरझा कर झर जाती है।

इस प्रकार अगर आधुनिकतावाद अर्द्धजीवित अर्धपक्षाघातहत सिद्धान्त है तो हम किधर को बढ़े ?

मैंने आधुनिकतावाद और पश्चिमवाद का प्रयोग अब तक समानार्थकों के रूप में किया है। इसका कारण यह है कि भारतीय सन्दर्भ में आधुनिकतावाद को पश्चिम की छाप का ही प्रतिफल माना जाता है। यदि ऐसा न माना जाय तो गत्यात्मक पश्चिम और स्थिर भारत की सम्पूर्ण धारणा ही ढह जाती है।

प्रभाव फिर भी शेष रहेगा लेकिन यह दावा कि उसी के कारण यथार्थ परिवर्तन घटित हुआ है या हो सकता है झूठा पड़ जायेगा। ऐसा लगेगा कि परिवर्तन का मुख्य प्रेरणास्रोत भारत की अपनी आन्तरिक शक्तियाँ हैं और पश्चिम का प्रभाव निहित स्वार्थों के अनुसार कभी तो प्रतिगामी तत्त्वों के साथ होता है कभी क्रान्तिकारी तत्त्वों के साथ। वास्तव में आज वही स्थिति है।

यों पश्चिम में भी आधुनिकतावाद है लेकिन चूंकि पश्चिम पर पश्चिम का प्रभाव पड़ने जैसी कोई बात सम्भव नहीं है। अतः पश्चिम का आधुनिकतावाद भारतीय आधुनिकतावाद से बुनियादी तौर पर भिन्न है। उदाहरण के लिए यदि कोई हिप्पी भारतीय पारम्परिक पोशाक पहिन लेता है तो वह समाज विछिन्न एवं नये सम्प्रदाय का सदस्य माना जाता है। लेकिन अगर कोई ग्रामीण बालक नेक-टाई पहन लेता है तो वह समाज का अंग और आधुनिकता के स्वप्नलोक में प्रविष्ट हो जाता है। क्योंकि नेक-टाई पश्चिम से सम्बद्ध पारम्परिक परिधान है। वस्तुतः भारतीय सन्दर्भ में पश्चिमवाद पर इतना आरोप नहीं लगाया जा सकता कि वह अवसरवादी और असंगत है। इससे भी अधिक भारत के लिए नितान्त हानिकर है। क्योंकि वह बौद्धिक और सामाजिक सामन्तवाद के सम्पूर्ण ढाँचे का भाग बन जाता है।

सांस्कृतिक नीतियां, मिथकों, संस्कारों और प्रतीकों के चतुर्दिक घूमती हैं। पश्चिमवाद प्रतीकों और संस्कारों को बदलने के लिए तो कटिबद्ध रहता है लेकिन पुराने सम्बन्धों को बनाये रखता है। वस्तुतः वह आधुनिकतावाद का एक शक्ति सम्पन्न संस्कार है। लेकिन जनता के दृष्टिकोण से उसका योगदान और उसकी स्थिति पुरातन ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त संस्कृत के समान है। संस्कृत-भाषी द्विजों और अंग्रेजी-भाषी बौद्धिक वर्ग में वास्तव में अन्तर कहाँ है ? दोनों ही पूजा के पात्र है। जो भारतीय कृषक की आत्मा पर अधिकार करने के लिए उग्र प्रयत्नों में लगे रहते हैं। और इस बीच यथास्थिति चलती रहती है।

आधुनिकता का सार्वभौम दर्पण बार-बार खण्डित होता रहता है। पाश्चात्य, निष्कर्ष की सार्वभौमिकता के पृष्ठ में है। विज्ञान व्यापक प्राद्यौगिकी और उद्योगिकीकरण इन्हीं के विकास के अनुपात में पश्चिमी समाज की विकासशीलता और गत्यात्मकता आँकी जाती है। इन्हीं के सन्दर्भ में कहा जाता है कि भारत तथा अन्य विकासशील देश स्थिरता की स्थिति में हैं। और इससे

आगे यह भी माना जाता है कि पश्चिम की गत्यात्मकता एक दिन अपने ही आन्तरिक नियमों के जोर से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो जायेगी। जिस क्रम का आरम्भ पश्चिम में औद्योगिक क्रान्ति से हुआ था। वह अपने आन्तरिक वेग से विश्वव्यापी औद्योगिक क्रान्ति बन जायेगा।

लेकिन अगर विज्ञानजनित गत्यात्मकता सार्वभौम है तो आज गतिहीन समाज क्यों पाये जाते हैं। विश्व में औद्योगिकीकरण एक समान नहीं है। इस स्थिति को सांस्कृतिक के नाम पर स्पष्ट किया जाता है। कहा जाता है कि असम विकास का कारण उस संस्कृति में खोजना चाहिए, जहाँ विकास नहीं हुआ है। वहाँ की संस्कृति अशुद्ध है। और विकसित देशों की संस्कृति वहाँ के लिए एक नमूना है। विकास स्वयं अपनी विशिष्ट संस्कृति और बौद्धिक रीति-नीति का जन्मदाता है।

इससे दो निष्कर्ष निकाले जाते हैं। भारत में पश्चिमी विज्ञान और औद्योगिकी की समग्र उपलब्धि कठिन-प्रायः असम्भव है। लेकिन सांस्कृतिक आधुनिकता को अपनाना उतना ही आसान है जितना धर्म परिवर्तन करना। अतः यदि हम वास्तविक को नहीं उपलब्ध कर सकते तो छाया को क्यों छोड़े ? अतएव पश्चिम के प्रगतिशील बौद्धिक तौर तरीकों को ग्रहण करना सम्भव भी है और वाञ्छनीय भी। दूसरे भारत जैसे पिछड़े देश में ऐसे तौर-तरीके अपनानेवाले पश्चिम के स्पर्श से एक प्रकार की प्रगतिशीलता को भी प्राप्त कर लेते है। जो औरों को सुलभ नहीं हैं। इसे हम स्पर्शधर्मी प्रगतिशीलता कह सकते हैं।

लेकिन कठिनाई और सीमा यह है कि जहाँ तक वास्तविक परिवर्तन का सम्बन्ध है यह सब संगत नहीं है। अगर कोई चन्द्र तल पर पहुँच जाये तो क्या सम्पूर्ण मानवता ने कोई बड़ा कदम आगे बढ़ा लिया है। परिवर्तन वास्तव मे किसी ऋजु रेखा में घटित नहीं होता। वह तो ज्वालामुखी के विस्फोट के समान होता है जिससे अगर एक क्षेत्र में विस्फोट हुआ तो दूसरे में घाटियाँ बन गयी। परिवर्तन की इसी प्रकृति के कारण पाश्चात्य दृष्टि की सार्वभौमता खण्डित रही है।

निष्कर्ष के रूप में पश्चिमवाद इसी तथ्य को नकारता रहा है। विस्फोट के प्रतीकों को गत्यात्मकता विशेष औद्योगिकी सम्मृद्धशीर्ष सत्ता को अलग-अलग देखा गया और उन्हें आधुनिकता का प्रतीक और संस्कार मान लिया गया। घाटियोंवाले क्षेत्रों को आधुनिकतावादी अपने ही क्षेत्र के परम्परावादी

से अर्थहीन विवाद में उलझता रहा है। इसी से ऐहिक मिथक का जन्म होता है।

विज्ञान एक अत्यन्त प्रतिष्ठित शब्द है। चाहे कोई अपने को आधुनिक कहता हो या दार्शनिक, चाहे भारतीय ज्योतिषी हो या मार्क्सवादी। सभी दावा करते हैं कि उन्हें विज्ञान की स्वीकृति प्राप्त है लेकिन हाल ही की खोज का निष्कर्ष यह निकला है कि जहाँ तक विचारधाराओं, मूल निर्णयों के बीच सम्बन्ध का प्रश्न है विज्ञान बिल्कुल तटस्थ रहता है। अतः अगर कोई पाश्चात्य आधुनिकतावादी दावा करता है कि विज्ञान का कोई विशिष्ट दृष्टिकोण होता है तो या तो विशुद्ध अवसरवादी है या विनाश की ओर उन्मुख है।

रही औद्योगिकी और औद्योगिकीकरण की बात वे काफी हद तक सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रविष्ट है और उनका प्रभाव विश्वव्यापी है। विश्व का ढाँचा वस्तुतः आज भी सामन्तवादी ही है। यहाँ एक ओर समृद्ध हैं तो दूसरी ओर सर्वहारा वर्ग। और यदि विकास की वर्तमान प्रवृत्ति चलती रही तो इन दोनों के बीच की खाई बढ़ती ही जायेगी। इस प्रकार औद्योगीकरणजन्य सार्वभौम समरसता जैसी कोई बात यहाँ है ? लेकिन फिर भी आधुनिकतावाद यह मानकर चलता है कि आज के विस्फोटक क्षेत्र भविष्य के विश्व की ओर इंगित करते हैं। आधुनिक मन के मिथकों में जिसे त्यागना सबसे कठिन है वह ऐहिक मिथक है।

लेकिन न्यूयार्क की गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ और भारतीय गाँव की झोपड़ियाँ बीसवीं सदी के ही दो रूप हैं। अगर इस बुनियादी तत्व को समझ लिया जाय तो वास्तविक सार्वभौम मन की नींव तैयार हो जाती है और ऐहिक मिथक लुप्त हो जाता है। जो व्यक्ति चन्द्रमा पर पहुँचता है उसे जो भूमिहीन किसान भूख की यातना सहता है उस तक एक ही विश्व है। एक ही प्रौद्योगिकी है, एक ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। भारत में व्यवस्थात्मक परिवर्तन की समस्यायें विश्वव्यापी समस्याओं से जुड़ जाती हैं। इस तथ्य को आधुनिकतावादी के बजाय राजनीतिक अधिक शीघ्रता से समझ लेता है।

आधुनिकतावादी जहाँ यह विश्वास करता है कि पाश्चात्य औद्योगिकीकरण और प्रौद्योगिकी से अनिवार्यतः सांस्कृतिक परिवर्तन के विशिष्ट तौर तरीकों का जन्म होता है। वहीं उसके सम्मुख यह नग्न तत्व आकर खड़ा हो जाता है कि रूस और अमेरिका का तकनीकी अधिकार तो समान है परन्तु उनके सांस्कृतिक तौर तरीकों में जमीन आसमान का अन्तर है अत (बुद्धि

होकर वह विश्वास करने लगता है कि आधुनिकतावाद सम्बन्धी विश्वव्यापी नियमों में कहीं कोई गम्भीर व्याघात आ गया है। इसका परिणाम सांस्कृतिक शीत युद्ध में प्रकट होता है।

इस संकट से उबरने का एक मात्र उपाय यही है कि तथ्य को स्वीकार किया जाय कि अब तक विकसित सांस्कृतिक रूप अनिवार्यतः औद्योगिक एवं तकनीकी क्रान्ति से जुड़े नहीं हैं। इसके अतिरिक्त आज प्रौद्योगिकी और औद्योगिकीकरण के लिए पहिले से कहीं अधिक पूँजी और निवेश अपेक्षित है अतः विश्व में सर्वत्र उनका प्रसार असम्भव है। अतः यदि हम ऐसे भविष्य की बात सोच रहे हैं जिसमें समृद्ध और सर्वहारावर्ग के बीच की खाई नहीं रहेगी तो वर्तमान प्रोद्योगिकी भविष्य की प्रोद्योगिकी नहीं है। हमें इस अनिवार्य निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि नये भविष्य के लिए वैकल्पिक तकनीक अपेक्षित है।

आज हमारे पास ऐसा कोई विकल्प नहीं है लेकिन यदि कोई अन्य भविष्य की बात सोचना आधुनिकतावाद को नकारना होगा तो आवश्यकता है नये चिन्तन की। नये चिन्तन का एक परिणाम यह होगा कि पश्चिमवाद और परम्परावाद के बीच द्विध्रुवीय संघर्ष द्वारा ही परिवर्तन की सम्भावना का विचार हमें त्यागना होगा। और चूँकि आधुनिकतावाद ऐतिहासिक दृष्टि से तथा वर्तमान प्रचलन के आधार पर पश्चिमवाद से अपने आपको पृथक नहीं कर सकता अतः आधुनिकतावाद का मुहावरा भी अपर्याप्त प्रतीत होगा। निष्कर्षतः हमें संस्कृति के सम्बन्ध में एक नया और चिन्तन आरम्भ करना होगा जिसके आधारभूत बिन्दु निम्नलिखित होंगे।—

१—प्रोद्योगिकी और विज्ञान जिस रूप में वे पश्चिम में विकसित हुए हैं स्वतः सार्वभौम नहीं बन सकते।

२—यदि वर्तमान प्रवृत्तियाँ जारी रहती हैं तो राष्ट्रों के बीच की खाई बढ़ती जायेगी। औद्योगिकरण को यदि उसके केन्द्रीय आधार से च्युत नहीं किया गया तो वह विश्वव्यापी नहीं हो पायेगी।

३—आज विश्व में चाहे किसी राष्ट्र के अन्दर हो या राष्ट्रों के बीच सार्थक संघर्ष के लिए समानता का ही ध्येय ग्राह्य है। यह संघर्ष समृद्धि या या गरीबी के विरुद्ध न होकर असमानता के विरुद्ध होगा।

४—यह संघर्ष कितना सच्चा है इसकी कसौटी यह है कि यह कितना

तात्कालिक है। जो भी आधुनिक या परम्परावादी सिद्धान्त यह कहते हैं कि यह संघर्ष तात्कालिक न होकर अन्तिम है। वे धोखे के सिद्धान्त हैं।

५—आज न तो आधुनिकतावादी और न ही परम्परावादी तात्कालिकता के आधार पर इस संघर्ष में रत हैं।

६—इस संघर्ष के मूल सहज हैं न्याय, सदाशयता, सरलता, जीवन निर्वाह स्तर में वैषम्य का अन्त। ये पैमाने न आधुनिक हैं न पारम्परिक। ये सामान्य मानवीय पैमाने हैं। जिनकी आज भारत को जरूरत है।

७—जिस सांस्कृतिक नीति के अन्तर्गत भावी परिवर्तनों में इस आयाम का समावेश न हो वह बीसवीं सदी के लिए संगत नहीं है।

८—परम्परावाद का विरोध इसलिए नहीं करना है कि वह अवैज्ञानिक है अथवा भारतीय यथास्थिति का द्योतक है बल्कि इसलिए कि वह सामन्ती है। पश्चिमवाद का विरोध इसलिए नहीं करना है कि वह परदेशी है। बल्कि इसलिए कि भारतीय सन्दर्भ में सामन्ती है।

९—अलग देश गत्यात्मक हो सकते हैं। लेकिन कुल मिलाकर विश्व यथास्थिति के कठोर चंगुल में है। कुछ देशों की वर्तमान गत्यात्मकता से यह जकड़न और कठोर बनती है। किसी भी वास्तविक परिवर्तनकारी सांस्कृतिक नीति को इस यथास्थिति को तोड़ने में सक्षम होना चाहिए।

सूची को लम्बा किया जा सकता है लेकिन तीसरे ध्रुव का नया परिप्रेक्ष्य होने पर ही सही दिशा में बढ़ा जा सकता है। अतः प्रश्न उठता है कि क्या इन सबसे तीसरा ध्रुव निरूपित होता है या इस समय जो ध्वनियाँ गूँज रही हैं उन जैसा ही कोई रूप उभरता है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद में साहित्य की भूमिका

डॉ० राममनोहर लोहिया के शब्दों में समाजवाद अधिक-से-अधिक और कम-से-कम आमदनी के बीच की खाईं को एक पूर्वनिश्चित क्रम के अनुसार, लगातार कम करके, किसी समय या किसी काल में अधिक बराबरी हासिल करने का विचार-दर्शन है। या आय की संगत और संभव समता के लिए प्रचीनकाल से ही विचार और प्रयोग होते रहे। कहते हैं कि सम्राट् नु-मि-तिङ् ने अपने राजकोश की समस्त धनराशि को प्रजाओं में बराबर-बराबर बँटवाया था किन्तु उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब प्रजाओं में बाँटी गयी धनराशि, थोड़े ही समय बाद, राजकोश में वापस लौट आयी। समता की व्यवस्था प्रवर्त्तित करने के निमित्त कृतनिश्चय होकर जब सम्राट् राजव्यवस्था के उस रहस्य का पता लगाने के लिए निकला, जिसके कारण गरीबों के पास से सिमट-सिमट कर धनियों के पास धनराशि स्वयंमेव चली आया करती है, तो उसे मार डाला गया। सम्राट् नु-मि-तिङ् को महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने विश्व का पहला समाजवादी कहा है। किन्तु यह कहना कठिन है कि दान के द्वारा अपने राजकोश को प्रतिवर्ष रिक्त कर देनेवाले भारतीय सम्राट् रघु की कथा, नु-मि-तिङ् की उक्त कथा से कम प्राचीन है।

आधुनिक युग में राबर्ट ओवेन का प्रयोग भी लगभग ऐसा ही था। ओवेन अपनी पूँजी लगाकर एक ऐसा औद्योगिक द्वीप बसाना चहता था जिसमें शक्ति के अनुसार श्रम करने और आवश्यकता के अनुसार सामान प्राप्त करने की सुविधा पर आधारित समता की व्यवस्था जारी की जा सकती। ओवेन की इस सदिच्छा के परिणाम को प्रयोगशाला-समाजवाद कहकर विचारकों ने गलती नहीं की। ढाई दशाब्द पहले इस प्रकार के सत्प्रयासों की चर्चा करते-करते श्री जयप्रकाश नारायण ने लिखा था कि प्रयोगशाला में शीशे पर सात रंगों की किरणें उतारना और बात है, चन्द्रधनुष उगाना और बात। श्री जय प्रकाश नारायण को उस समय उसके अनुयायी भारत का, लेनिन कहते थे। पर यह तथ्य आगे चलकर श्री जयप्रकाश नारायण ने नहीं, डॉ० लोहिया ने स्पष्ट किया कि यूरोप का समाजवाद वह ख्वाबी हो या वैज्ञानिक, पैमाने के बड़े होने के कारण और भी खतरनाक ढंग का प्रयोगशाला समाजवाद ही है

क्योंकि उसके पीछे शेष जगत् के शोषण और अपमान के आधार पर यूरोप को चमकदार बनाने की योजनाबद्ध ऐतिहासिक घटनायें और विचार दर्शन हैं।

समता को प्रचार द्वारा लोकप्रिय बनाकर जनमत के आधार पर बनी सरकारों के द्वारा समाजवाद कायम करने की कल्पना यूरोप के सामाजिक लोकतन्त्रियों ने भी की थी। पर वे अपनी और करतूत से इतने बदनाम हो चुके थे कि मार्क्स और एन्गेल्स ने जब यूरोपीय सर्वहारा वर्ग की 'कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो' की रचना की तो उसकी भूमिका में उन्होंने ऐसा स्पष्ट कर दिया कि वे अपने ग्रन्थ का नाम सोश्यलिस्ट मेनिफ़ेस्टो भी रख सकते थे, पर ऐसा उन्होंने नहीं किया, क्योंकि सामाजिक लोकतन्त्रियों के चलते यूरोप में समाजवाद बदनाम हो चुका था। यह दूसरी बात है कि इन कम्युनिस्ट नेताओं ने भी अपने विचार-दर्शन को वैज्ञानिक **समाजवाद** कहने में किसी संकोच का अनुभव नहीं किया। फिर भी इस संप्रदाय के विचारकों ने समाजवाद के प्रति एक प्रकार की हीन धारणा बनाये रखी और यह उसी का परिणाम है कि ट्राटस्की ने समाजवाद को साम्यवाद के पहले की व्यवस्थापरक अन्तर्दशा के रूप में व्याख्येय बताया। लोकतान्त्रिक समाजवाद को वे बराबर यूरोपीय सामाजिक लोकतन्त्रियों की तफ़शील में समझते रहे और कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो के सम्बन्ध में अपनी टिप्पणी देते समय ट्राटस्की ने लिखा है कि जनमत के नाम पर बनी यूरोप की ये समाजवादी सरकारें वस्तुतः शोषक वर्ग की कार्य-समितियाँ हैं और यदि उस वर्ग की स्वार्थरक्षा में उनसे थोड़ी भी चूक होती है तो उन्हें जूते मार कर बर्खास्त कर दिया जाता है। ऐसे ढुलमुल समाजवाद के मुकाबले में साम्यवाद द्वारा अपने को **वैज्ञानिक समाजवाद** कहना उचित ही था।

लोकतन्त्र का नाम लेनेवाले समाजवादियों से कुपित रहने के बावजूद मार्क्सवादी विचारकों ने समाजवाद और लोकतन्त्र के सम्बन्ध के प्रसंग में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कहीं हैं। लोकतन्त्र को स्पष्ट गर्हित करते उन्हें प्रायः संकोच होता रहा है। वे जब लोकतन्त्र की निन्दा करते हैं तो प्रायः इसलिए कि लोकतन्त्र के नाम पर शोषण के नकली राजनीतिक न्याय और समता में छिपने की माँद मिल जाया करती है। ट्राटस्की जैसे मार्क्सवादी विचारक तो स्पष्टतः ऐसा मानते रहे हैं कि लोकतन्त्र समाजवाद में ही चरितार्थ हो सकता है। पर लोकतन्त्र की पूर्ण चरितार्थता के लिए, उनके अनुसार यह आवश्यक है कि

पूँजीवाद से समाजवाद में तब्दील होनेवाली व्यवस्था की स्थिति के अनुसार, जनमत को सुरक्षित और सीमित कर दिया जाय। ऐसा न करने पर पूर्व सत्तारूढ़ शोषक वर्ग का हथकण्डा होकर लोकतन्त्र का समाजवाद के विरोध में उपयोग हो जा सकता है। इस संकट से बचाव के लिएँ वाञ्छनीय यह है कि पूर्वसत्तारूढ़शोपक वर्ग को प्रचार और मतदान के अधिकार से तब तक के लिए वंचित रखा जाय जब तक कि नवसत्तारूढ़ सर्वहारा वर्ग पूर्णत: दृढ़ और प्रतिष्ठित नहीं हो जाता और समाज में वर्ग भेद का अन्त नहीं हो जाता। इस वर्ग के विचारकों के अनुसार, सर्वहारा वर्ग की अभिव्यक्ति प्राय: कम्युनिस्ट पार्टी के द्वारा होती है। अत: पूँजीवादी व्यवस्था के नकली लोकतन्त्र से समाजवादी व्यवस्था के वास्तविक लोकतन्त्र के बीच के संक्रान्तिकाल में पहले एक दलीय अधिनायकतन्त्र, फिर सर्वहारा वर्ग के बहुदलीय अधिनायक तन्त्र और अत में पूर्ण लोकतन्त्र की व्यवस्था क्रमश: सम्भव है। पर इतिहास की विडम्बना वैज्ञानिक समाजवाद की इस कल्पना को कभी और कहीं पूरा नहीं होने दिया। स्वयं रूस में कम्युनिस्ट दलीय अधिनायकवाद सर्वहारा वर्ग के प्रजातान्त्रिक अधिनायकवाद में विकसित होने के बजाय, एक संकीर्ण राजनीतिक गुट के और फिर लगभग एक व्यक्ति के अधिनायक तन्त्र में बदल गया जिसके परिणामस्वरूप केवल ट्राटस्की की ही नहीं, रूसी क्रान्ति की लाल समिति के कुल पचीस सदस्यों में से दस की देर-सबेर हत्या की गयी और राजशक्ति के केन्द्रीकरण की यह प्रवृत्ति इतनी असहनशील और आक्रामक हो गयी कि दूसरे कम्युनिस्ट देशों को भी सत्ता के विकेन्द्रीकरण का अधिकार प्रथम साम्यवादी गणतन्त्र के हाथों ही छिनने लग गया और इसका ताजा उदाहरण है चेकोस्लोवाकिया के अन्दरूनी मामले में रूस का सशस्त्र हस्तक्षेप।

वैज्ञानिक समाजवाद की एक दूसरी निर्णायक भविष्यवाणी का भी लगभग ऐसा ही हाल हुआ। मार्क्स ने कहा था कि पूँजीवाद की अन्तरिक असंगतियाँ उसे दो खेमें में बाँटकर नष्ट कर देंगी, और वातापी की तरह, पूँजीतन्त्र का पेट फाड़कर सर्वहारा वर्ग की अगुआई में समाजवाद प्रकट होगा। देखते-देखते इतिहास ने उन्नीसवीं सदी के यूरोप के बड़े कर्मठ दार्शनिक की इस भविष्यवाणी की भी विडम्बना कर डाली जब पूँजीवाद के व चरमरूप साम्राज्यवाद के तथाकथित अंतिम आत्मयुद्ध के दोनों ही पक्षों में सोशलिस्ट गणतन्त्र बारी-बारी से सम्मिलित हुआ, और उसके सहयोग से हीरोशिमा पर अणुबम फेंका गया, पोलैण्ड, और मार्क्स की जन्मभूमि जर्मनी का विभाजन

हुआ तथा भारत के अंतिम स्वातंत्र्य-युद्ध का अमानुषिक ढंग से दमन किया गया। इतना ही नहीं, दूसरे विश्वयुद्ध के एक दशाब्द बीतते-बीतते साम्यवाद की अपनी आन्तरिक असंगतियाँ ही रूस और चीन के दो विरोधी खेमों मे प्रकट हो गयी और पूँजीवाद से पहले ही, जैसे साम्यवाद आत्महत्या के लिए आतुर दिखायी पड़ने लगा।

यह सच है कि वैज्ञानिक समाजवाद के तर्कों ने लगभग एक सदी तक हर विचार धारा को पराजित और मौन बनाये रखा। किन्तु यह भी सत्य है कि कोई विचार अपनेतईं दूसरे विचार या विचारों को खण्डित नहीं कर पाता। हर विचार बरते जाने के क्रम में स्वतः अपना खण्डन और मण्डन करता है। साम्यवादी देशों और नेताओं के आचरण से साम्यवादी विचार इस दृष्टि से खण्डित हो चुका है और इतिहास ने अब वैज्ञानिक समाजवाद की अवैज्ञानिकता जाहिर कर दी है।

विरुद्धताओं के अविरोध के द्वन्द्वन्याय पर आधारित वैज्ञानिक समाजवाद ने अधिनायकवाद के द्वारा पूर्ण प्रजातन्त्र की स्थापना, रूस की पिछलग्गू राष्ट्रीय नीतियों के आधार पर विश्वराज्य की स्थापना रक्तक्रान्ति द्वारा समाज की शांतिपूर्ण व्यवस्था और धर्मनिरपेक्ष नास्तिकता के द्वारा विश्वबन्धुत्व के सदाचारी समाज के प्रवर्त्तन की प्रतिश्रुति लेकर लगभग एक सदी तक हर देश की युवापीढ़ियों को उलटबाँसी में उलझाये रखा और संसार के शेष भाग इस यूरोपीय जादूगरी की लम्बी डींगों के सच होने की प्रतीक्षा में उसका आज्ञापालन भर करते रहे।

पूँजीवाद के प्रौढ़ होने तक की प्रतीक्षा में पिछड़े देशों के वैज्ञानिक समाजवादी जब रूस से इहलाम माँग रहे थे, जिसने खुद विनती की तरह दासत्व-मुक्ति के लिए समय में उतावली दिखायी थी, तो मानवता के नेता महात्मा गाँधी ने तरस खाकर कहा था—

"मैं अपने को समाजवादी कहता हूँ···लेकिन मैं उसी समाजवाद का उपदेश नहीं करूँगा जिसका अधिकतर समाजवादी करते हैं (पृ० १२)······ पूँजीवालों से उनकी पूंजी हिंसा के जरिये छीनी जाय, इसके बजाये यदि चरखा और उसके सारे फलितार्थ स्वीकार कर लिये जायँ तो वही काम हो सकता है (पृ० १)"। यह समाजवाद स्फटिक की तरह शुद्ध है। इसलिए उसे सिद्ध करने के साधन भी शुद्ध ही होने चाहिए। अशुद्ध साधनों से प्राप्त होने वाला साध्य भी अशुद्ध ही होता है पृ० ७ सुनहला नियम तो यह है कि

जो चीज लाखों लोगों को नहीं मिल सकती, उसे लेने से हम भी दृढ़तापूर्वक इन्कार कर दें। (पृ० २०) हमारे पास जो कुछ भी है उस पर हमारा और आपका तब तक कोई अधिकार नहीं है जब तक सभी लोगों के पास पहनने के लिए पूरा कपड़ा और खाने के लिए पूरा अन्न नहीं हो जाता। (पृ० २०) यदि हरेक आदमी जितना उसे चाहिए उतना ही ले, ज्यादा न ले, तो दुनिया में ग़रीबी न रहे और कोई आदमी भूखा न मरे। (पृ० २६)

लोकतान्त्रिक समाजवाद के ये सूत्र कालान्तर में एक ऐसे मसीहा के द्वारा व्यवस्थित और स्थापित किये गये, जो अपने को, सरकारी और मठी गाँधी-वादियों से अलग कुजात गाँधीवादी कहते थे, यह मसीहा थे डॉ० राममनोहर लोहिया।

डॉ० लोहिया ने समाजवाद के पाँच अवयवों के रूप में लोकतन्त्र, अल्प-पूँजी उद्योग, विकेन्द्रीकरण, अहिंसा और अन्तर्राष्ट्रीयता-संगतराष्ट्रीयता की स्थापना की और उनको प्रसंग में नर-नारी की असमानता मिटाने के लिए, रंगभेद पर रखी गयी आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और दिमाग़ी असमानता मिटाने के लिए पुराने संस्कारों पर आश्रित पिछड़े और ऊँचे समूहों या जातियों की असमानता के विरुद्ध पिछड़ों को विशेष अवसर देने के लिए, स्वतन्त्रता हेतु परदेशी गुलामी के विरुद्ध तथा विश्वलोकराज के लिए, आर्थिक समानता के निमित्त निजी पूँजी की संस्था तथा मोह के विरुद्ध लोकतन्त्रीय तरीकों के लिए तथा अस्त्र-शस्त्र के विरुद्ध अहिंसक सत्याग्रह के लिए समतामूलक आदर्श की सात क्रान्तियों की व्यवस्था दी। उन्होंने वैज्ञानिक समाजवाद के विचारकों में प्रचलित पूँजीवाद की असंगतियों के परिपाक के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए बताया कि पूँजीवाद ही नहीं हर व्यवस्था की कमर तब तक अपने ही बोझ से टूटती रहेगी जब तक एक देश, वर्ण या वर्ग का उत्कर्ष दूसरे देशों, वर्णों या वर्गों के अपकर्ष पर आधारित रहेगा और कमजोर को विशेष संरक्षण देकर बलशाली उसे अपनी समकक्षता में नहीं ले आयेंगे।

डॉ० लोहिया पहले विचारक हैं जिन्होंने बताया कि यदि अधिकतम उपा-देयता की जगह पूर्ण सार्वत्रिक उपादेयता को लक्ष्य नहीं माना जाय, सबल राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों का शोषण और दोहन करते रहे, यदि अगलों के द्वारा पिछड़ों का अपमान किया जाता रहा, गाँवों को शहरों के द्वारा, और श्रम को पूँजी के द्वारा लूटा जाता रहा तो इतिहास की चक्की चलती रहेगी और सभ्यता और समृद्धि की हर इमारत अपने ही बोझ से टूट कर गिरती रहेगी।

अपनी इस आन्तरिक असंगति से केवल अमरीकी पूँजीवाद का ही नहीं, रूसी और चीनी साम्यवाद का भी सर्वनाश अवश्यम्भावी है। पुरुष पुरातन की प्रिया आज तक एक घर से दूसरे घर, एक देश से दूसरे देश, एक सभ्यता से दूसरी सभ्यता में भटकती रही है। काबुल से अमरीका, ग्रीक से रूस, भारत से अरब जाकर वह कुछ नई रोशनी नहीं लाती पुराने दिए की बुझी लौ को केवल नये दिए में लगा देती है। इतिहास इस चक्रभ्रमण के भ्रम के अन्त के लिए उन्होंने लोकतान्त्रिक समाजवाद के सगुण, सक्रिय रूप की स्थापना की। वस्तुत: डॉ० लोहिया की इन स्थापनाओं ने लोकतान्त्रिक समाजवाद को अन्तर्राष्ट्रीय जागरण और संयोजन के उपयुक्त संघर्षों के लिए कारगर विचार-दर्शन बनाया। लोकतान्त्रिक समाज की "समता" वस्तुत मानवता का पर्याय हो गयी है और इस प्रसंग में स्वयं डॉ० लोहिया ने फ़र्माया कि "समाजवाद, मनुष्य जाति की, मनुष्यजाति के लिए, मनुष्यजाति द्वारा सरकार का विचार दर्शन है, ताकि एक और जनता की जनता के लिए और जनता के द्वारा सरकार को दूसरी कम्यून की, कम्यून के लिए, कम्यून द्वारा सरकार हो।

लोहिया, लेनिन और गाँधी के बाद आये थे, इसलिए वे उन दोनों से और आगे की बातें कहें और करें, यह स्वाभाविक ही था। गाँधी और लेनिन, सन्त और कमाण्डर, धर्म और राजनीति का और भी अनोखा मेल उनके द्वारा निश्चय ही सम्भव था। उन्होंने यह तो बताया था कि धर्म दीर्घकालीन राजनीति है और राजनीति अल्पकालीन धर्म है, उन्होंने यह भी कहा था कि राजनीति बुराइयों से लड़ना है और धर्म अच्छाइयों को बरतना है और इसी प्रसंग में राष्ट्रों के अलग-अलग चौखम्भा राज्यों को अपने विशिष्ट योगदान से जनमत और समता के आदर्श पर आधारित एक अहिंसक पंचायती विश्वराज्य का रचना करनी है किन्तु धर्मनिरपेक्षता की राजनीति में अपने उपयुक्त साहस की यह बात कहने के वे पहले ही गुज़र गये कि वैसे विश्वराज्य की स्थापना और संचलना वस्तुत: विश्व धर्मों के ही आधार पर संभव है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने लोकतन्त्र और समाजवाद की अपलापक असंगतियों में अधिकांश का निराकरण किया और नयी संगतियों की योजना की। पर जहाँ तक इतिहास के नियति-व्यंग्य की बात है, लोहिया की भी अपने अनुयायियो के हाथ वही गति हुई जो लेनिन और गाँधी की, उनसे पहले, अनुयायियों के हाथ हो चुकी थी और उस इकाई पर चढ़नेवाले सारे शून्य समाजवाद और लोकतन्त्र के सूफ़ी फ़क़ीर के सपनों को शून्य करते चले गये यह दुर्भाग्य की बात

है कि सर्वहारावर्ग के रूसी और चीनी अधिनायक जिस प्रकार शक्ति को केन्द्रित करते जा रहे हैं, जनतन्त्र की शपथ खानेवाले, लोकतान्त्रिक समाजवाद के भारतीय नेता केवल अवसर के अभाव में; उस अनुष्ठान में, उनसे पीछे रह गये हैं और एक महान् तपोमय तथा धीर फ़कीर के अनुयायी और ऋषियों और तपस्वियों की भूमि के निवासी होकर भी वे शक्ति और भोग के मोह से मुक्त होकर लोकतान्त्रिक समाजवाद के फूल के नवजात पौधे की जड मे अपनी देह और मन को खाद बनाकर नहीं डाल सके। संभवतः इसका कारण यह है कि विश्व की अगली सभ्यता शक्ति के द्वारा नही, तपस् और तितिक्षा के द्वारा स्थापित होगी और उसके पहले इतिहास की छिन्नमस्ता शक्ति केन्द्रों का संपूर्णतः ध्वस्त और कदर्थित करने का औचित्य विज्ञापित करने लग गयी हैं।

लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रत्यय-विकास के क्रम में समता का मात्रा भेद से "मानवता" के पर्याय के रूप में गुणभेद स्वयं मे एक अजीब मनोज्ञ सैद्धान्तिक सिद्धि है। डॉ० लोहिया की स्थापना ने वस्तुतः लोकतांत्रिक समाजवाद को मानवता और उसके भविष्य की आशाप्रदता का पर्याय बना हुआ इस प्रसंग में यह आवश्यक ही है कि साहित्य जो स्वयं मानवता के अनेक महत्त्वपूर्ण पर्यायों में अन्यतम है, अपने स्वभाव और स्वधर्म की प्रेरणा लोकतांत्रिक समाजवाद को प्रतिष्ठित और अस्वर करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका चरितार्थ करे।

यह अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण घटना है कि गाँधी जी ने २०-२-३७ के "हरिजन" में जब समाजवाद के प्रसंग में लिखा था तो उन्हें भारत के आर्य साहित्य का स्मरण हो आया था। उन्होंने लिखा है :

"समाजवाद का जन्म उस काल नहीं हुआ था जब यह पता लगा कि पूँजीपति पूँजी का दुरुपयोग करते हैं। जैसा कि मैंने कहा है, समाजवाद ही नहीं, साम्यवाद भी ईशोपनिषद् के पहले मन्त्र में स्पष्ट है।" और यह निरा सयोग नहीं है कि सच्चे समाज-वाद का जब उससे पहले २-१-३७ को हरिजन मे उन्होंने निरूपण किया था तब भी उन्हें हिन्दी के भक्त कवि का एक दोहा स्मरण हो आया था : "सबै भूमि गोपाल की" उन्होंने लिखा है :

"सच्चा समाजवाद तो हमें अपने पूर्वजों से प्राप्त हुआ है, जो हमें यह लिखा गये हैं : "सब भूमि गोपाल की है, उसमें कहीं मेरी और कहीं तेरी की सीमायें नहीं हैं। ये सीमायें आदमियों की बनायी हुई हैं और इसलिए इन्हे तोड भी सकते है।"

साहित्य समाजवाद का लगभग समानधर्मा इसका एक बहुत बड़ा कारण उसके माध्यम भाषा स्वरूप और स्वभाव है। भाषा स्वभावतः सामाजिक सामग्री है और उसके वैयक्तिक संचय का प्रश्न ही अस्वाभाविक है। मनुष्य शेष प्राणियों से अपनी जिस मनस्थिता के आधार पर श्रेष्ठ होने का गर्व करता है उस मन का वह अधिकरण है और जिस आत्मवत्ता के कारण वह सच्चिदानन्द का अर्हत् पात्र है, भाषा को उस आत्मा का अंश कहा गया है। औजार बनाने और चलानेवाले सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य के विकास के प्रसंग में, कहते हैं कि श्रम के क्रम में हाथ और मन के साथ भाषा भी उपज आयी और इसलिए कर्म और चिन्तन की वह यमजा सहोदरा है। पंचतत्त्वों मे सर्वाधिक सूक्ष्म आकाश तत्त्व का गुण होकर वह प्रत्येक अभिधेय का अभिधान ही नहीं करती, उनके उपादान में भी सतत विद्यमान रहती है।

इस सूक्ष्म, सामाजिक, आकाशमनोमय माध्यम का जो परम साम्यमय अतः अन्तर्राष्ट्रीय और अक्षयचित्कर रूप है, साहित्य के लिए उसे ही अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त बताया गया है। वाणी का जो भाग कर्णकुहर में कम्पन फैलाकर चुक जाता है वह साहित्य का नहीं, संगीत का द्रव्य है। साहित्य की भाषा तो उसके निःशेष हो जाने पर ही अपनी अशेष शक्ति के साथ जगती है। किन्तु उन शक्तियों में भी अभिधा और लक्षणा से जो अधिक सूक्ष्म है, अब व्यंजना को साहित्य के लिए पसन्द किया जाता है। इस सूक्ष्म व्यंजना को भी साहित्य के उपयुक्त कैवल्य प्राप्त करने के लिए ध्वनि बनकर सूक्ष्मतर विदेहत्व से सूक्ष्म होता है और इस सूक्ष्मरूप में भाषा की द्राक्षा का केवल आस्वादमय रस बच रहता है, छिलके, गूदे और गुठली के हिस्से छूटकर छिटक गये होते हैं। सच्चा साहित्य, इस प्रकार, महज भाषा से नहीं, भाषा की तपस्या—अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियं हितं च यत्—से फलित होता है। इस रूप में साहित्य का स्वभाव ही समतामय होता है, ऐसा रस के साधारणीकरण और समूह बद्धात्मकता से स्पष्ट है। इसी समता को विनोबा जी अहिंसा कहते हैं। उत्तम साहित्य अभिधायक नहीं, सूचक होता है, बिना आहट के हम में अँट जाता है। साहित्याचार्यों ने साहित्य के ऐसे अहिंसामय निवेदन को कान्तासम्मित उपदेश कहा है। जो साम्यमय और अहिंसामय अतः प्रेममय है वह सबका होकर एक है। इसलिए साहित्य स्वभावतः अन्तर्राष्ट्रीय है। सिकन्दर और तैमूर, हिटलर और चर्चिल भले ही किसी देश के हीरो हों पर होमर, और फ़िरदौसी, गेटे और शेक्सपियर हम सभी के हैं। अंग्रेजी और ग्रीक भाषा हमारी जीभ काटनेवाली तल-

वार हो सकती है पर उन्हीं भाषाओं में लिखित इलियड और "वर्न्ट नार्टन' तो हमारा हृदय-हार है। सच्चा साहित्य वस्तुत: हर किसी का स्वदेश, हर किसी की धात्री है, वह अन्तर्राष्ट्रीय नर-सम्पत्ति है।

"कीरति, भणिति, भूति, भलि सोई
सुरसरि सम सब कहँ हित होई"।

साहित्य स्वभावत: लोकतान्त्रिक समाजवाद का समानधर्मा है क्योंकि वह परस्मैपदीन रस की सदानीरा होने के कारण सहृदयता, प्रेम, अहिंसा और समता के सर्वजनीन अन्तर्राष्ट्रीय स्वदेश को नर-जाति के भावक्षेत्र में प्रतिष्ठित करता आया है और उसका माध्यम भाषा स्वभावत: सूक्ष्म, सामाजिक और विकेन्द्रणोन्मुख है। महज इस तथ्य से लोकतान्त्रिक समाजवाद के प्रति साहित्य की भूमिका चरितार्थ नहीं हो जाती। स्वभाव अन्तत: एक विशिष्ट प्रकार की संभावना भर होता है और संभावना की चरितार्थता के लिए साधना की अपेक्षा होती है तथा साधना के लिए साधक की।

साधक के अभाव में अथवा अन्यथाभाव में साहित्य के प्रकृत धर्मों का साहित्य के ही द्वारा वैसा अपलाप संभव है, जैसा जर्मनी के राष्ट्रीय समाजवादियों द्वारा समाजवाद का अपलाप किया जा चुका है। समाजवाद के प्रसंग मे १३-७-४७ के हरिजन में गांधी जी ने लिखा था :

"समाजवाद पहले समाजवादी से शुरू होता है। अगर ऐसा एक भी समाजवादी हो तो आप उस पर शून्य बढ़ा सकते हैं। पहले शून्य से उसकी ताक़त दसगुनी हो जायगी। उसके बाद हर एक शून्य का अर्थ पिछली संख्या से दस गुना होगा। परन्तु यदि आरंभ करनेवाला स्वयं ही शून्य हो—तो कितने शून्यों के बन जाने पर भी परिणाम शून्य ही होगा। शून्यों के लिखने में जितना समय और कागज़ खर्च होगा, वह भी व्यर्थ जायगा।" गाँधी जी ने जो समाजवादियों के सम्बन्ध में कहा, वह साहित्यकार के प्रसंग में भी उतना ही मौजू है।

साधक पेशगी या फ़र्मान लेकर साधना नहीं करता। यह दूसरी बात है कि हसिए-हथौड़े या हल-चक्के पर कविता लिखी जा सकती है, तिल को ताड़ और ताड़ को तिल साबित करने के लिए अक्षरों के तार जोड़े जा सकते हैं, समाजवाद का नाम लेकर ऐयाशी करनेवाले हवाई मिनिस्टरों के त्याग और तपस्या के झूठे लतीफ़े गढ़े जा सकते हैं और ऐसा कर मतलब साधनेवाले पर्चेबाज छैले समितियों में नामजदगी और नौकरी में तरक्की पा सकते हैं। पर

इस बेहयाई का समाजवाद और साहित्य से कोई जायज सरोकार नहीं रह सकेगा।

साहित्य लोकतान्त्रिक समाजवाद के लिए वस्तुतः वही कर सकता है जो खुफियों, मसखरों हाँ-हुजूरों, मार्कनन्दनों के काफिले तथा भाषणानन्द वजीरो के दल नहीं कर सकते और ऐसा वह स्वधर्म के कारण कर सकता है, पुरस्कार, फर्मायश, तरक्की, वाहवाही और लाभ के लोभ में नहीं। विचारक की उद्भावना; नेता के निश्चय, शास्त्रकार के निरूपण और प्रशासक तथा राजपुरुष के व्यवस्था-संचालन किसी राजनीतिक भावधारा को अपने नेतृत्व मे अधिक से अधिक, केवल संचारी दशा तक पहुँचा सकते हैं पर साहित्य तो उसे जन-जन का संस्कार बनाकर समाज की आगामी पीढ़ियों के हृदय-तल मे अधिष्ठित कर सकता है और इस तरह कालपुरुष की इतिहास-परायण सहृदयता में उसे रस-पदवी तक पहुँचने की योग्यता से सम्पन्न बनाकर स्थायी देश तक ले जा सकता है। साहित्यकार यदि सिद्ध और समर्थ हो तो वह वाल्मीकि की तरह राजनीतिक भविष्यत् को और व्यास की तरह उसके अतीत को, अपने वर्तमान में बैठे-बैठे बाँध सकता है, उसके अकाल को त्रिकाल में और त्रिकाल को अकाल में देख और दिखा सकता है, पर अपने इस विराट् रूप से पृथक् होकर अपने वामन रूप में भी वह अपनी पसन्द की राजव्यवस्था का कल्याण कर सकता है। वह चन्द की तरह अपने पृथ्वीराज का जन्म और मरण में साथ दे सकता है, वाल्मीकि की तरह स्वयं जंगल में रहकर राजभवन के निर्वासित निरपराध सतीत्व के प्रतिशोध-समर्थ मातृत्व से मंडित होने की अवधि तक शरण और संरक्षण देकर रामराज्य का मूल सुधार दे सकता है और व्यास की तरह अपने नियोग जात वंशजों के द्वेषमय द्वापर के युद्ध अवशिष्ट शोणित समुद्र में स्वयं को खड़ा रखकर भी आनेवाले विजातीय युग को निष्कम्प, अनसूय और शुद्धभाव से असीस सकता है :

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत ॥

यदि लोकतान्त्रिक समाजवाद को कभी साहित्य का ऐसा साधक मिलेगा तो पुरस्कार, परवरिश और नामजदगी के लोभ से नहीं, यों उस पर पड़े हर शून्य का मोल जरूर दसगुना बढ़ता जायेगा।

यह दूसरी बात है कि जिस दीवालिये व्यवस्था के बाजार में सब कुछ बिकाऊ है तो उसमें साहित्य को भी पण्य के रूप में अपने अस्तित्व का औचित्य

सिद्ध करना होगा और तब तो साहित्यकार को भी अपने घाटे और मुनाफे का हिसाब रखना ही होगा। कारण स्पष्ट है—

"बुभुक्षितैः व्याकरणं न भुज्यते,
न पीयते काव्यरसः पिपासितैः" ॥

वैसी व्यवस्था में रहीम को मन्सबदारी करनी होगी, गंग को सिजदा बजाना होगा, कुंभनदास को फतहपुर सीकरी और तुलसी को दिल्ली के दरबार मे हाजिरी देनी होगी, और उनके साहित्य में इन आदायगियो की भी अदाएँ हो यह सर्वथा स्वाभाविक है। लेकिन यदि साहित्यकार सच्चा है और उसका साहित्य, त्रिकाल के ताल पर थिरकनेवाले तारों की झंकार से मेघजल की तरह स्वभावतः झड़कर उतरा है तो आपद्धर्म के बीच स्वधर्म के ऐसे मौके भी आ ही जाते हैं जब उसे मन्सबदारी गँवाकर भार झोंकना पड़ सकता है, सिज्दा बजाना बन्द कर हाथी के पैरों तले कुचला जाने के लिए रूखसत होना पड़ सकता है, सलाम किये जानेवाले के मुख को देखकर दुख लग सकता है और उसके दिल में प्राकृत जन गुण गान करने के पाप के पश्चाताप में गिरा सिर धुन कर रो सकती है। और सच पूछिये तो इसी कारण अदायगियो के बीच रह स्रष्टा और प्रणेता बनने का अवसर भी पाता रहता है। यों गुलाब को हम गुलकन्द बनाकर जब खाना चाहते हैं तो काँटो में खिलखिलानेवाली हँसी का रंग उड़ जा चुका होता है, लेकिन बची रहनेवाली खुशबू भी कोई कम बडी चीज नही होती गो कि वह गुंजन से ज्यादा सीत्कार से सामीप्य रखती है और उसको पता देकर उससे कही बड़ी चीज वहाँ से लापता हुई होती है।

यहाँ यह कह देना जरूरी है कि कोई भी व्यवस्था अपने शिकंजे की मजबूरी में साहित्यकार को बाँधकर जब उससे साहित्य उगाहने लगती है तो सच्चे साहित्यकार को दारुण पीड़ा होती है और उसका स्वधर्म टूटने लगता है। समाजवाद भी इसका अपवाद नहीं है। मायाको रूस के समाजवादी तानाशाह के दरबार-ए-आम में घोषणापूर्वक कवियों को ललकार कर कह सकता है—दोस्तो, ऐसी पुरज़ोर कवितायें लिखो जो लाल सेना के हर कदम पर ताल दे सके ताकि पार्टी के अगले सालाने जलसे में जब कामरेड स्तालिन इस्पात की राष्ट्रीय पैदावार की रपट पेश करने लगें तो वे कविता के उत्पादन का हिसाब देना न भूलें, लेकिन, ऐसा कह चुकने के बाद भी वह साहित्यकार के उस स्वधर्म से पल्ला नहीं झाड़ पाता है जिसकी खातिर उसका दर्द उसे आत्म-

हत्या करने को विवश कर देता है और यन्त्रणा-कैम्प से बचने के लिए वह जो कुछ रचता है उसके प्रायश्चित में उसे अन्ततः खुदकुशी करनी ही होती है। यों यह भी आवश्यक नहीं है कि हर साहित्यकार अपने स्वधर्म को न पाल सकने की पीड़ा को भोगने के लिए तैयार हो जाय। प्रतिभायें वेश्यावृत्ति नहीं कर सकतीं और आदमी की जीभ कुत्ते की दुम की तरह नहीं हिला करती, ऐसा हर मिसाल के लिए जरूरी नहीं कहा जा सकता।

ऐसा भी सम्भव है कि साहित्यकार साहित्य-सृष्टि के प्रसंग में जैसा रहता है, उससे वह बिल्कुल भिन्न और विरुद्ध होकर जिया करता हो। फिर भी कभी-कभी सच्चे नेता और सच्चे प्रणेता की एक जैसी गति हो ही जाती है और तब दोनों ही धैर्य पीकर, संतोष खाकर विपुला पृथ्वी और निरवधिकाल में अपने समानधर्मा की प्रतीक्षा करते अविचल खड़े रह सकते हैं, और द्वापर रक्तसागर में आकण्ठ डूबकर महाभारत का प्रणेता और कलियुग के अणुबम के धुएँ में गुम होकर लोकतान्त्रिक समाजवाद का नेता संयोग से कभी-कभी बिल्कुल एक ही जैसे वाक्य कहकर उत्तराखण्ड की ओर प्रस्थान करता है :

"उर्ध्वबाहुर्विरोम्येण नहि कश्चिच्छृणोति मे।"

हाँ, आज मेरी बात जनता नहीं सुनती है लेकिन एक दिन सुनेगी जरूर, लेकिन तब शायद मैं नहीं रह जाऊँगा।

इतिहास और परम्परा

विजयदेव नारायण साही

भारत के गौरवमय इतिहास और महान परम्परा की बात पिछले दौर मे बहुत कही गयी। एक हद तक इसके पीछे विदेशियों के मुकाबले में लोगो मे आत्मविश्वास और राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा जगाने की भावना थी। लेकिन आजादी के बाद राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा सिर्फ़ ऊँचे स्वर में पुकारने की चीज नही रह गयी। उसकी कसौटी अन्वेषण नहीं सृजनशीलता हो गयी। वर्तमान से साक्षात्कार और खुले हुए भविष्य का क्रियात्मक दबाव आज ज्यादा आन्तरिक अनुभूतियाँ है।

इसीलिए पिछले दौर के विचार एक हद तक नाकाफ़ी लगते हैं। पिछले दौर से मेरा मतलब आधुनिक हिन्दुस्तान की उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों के उस काल से है, जिसे स्थूलतः पुनर्जागरण और स्वतन्त्रता-संग्राम का काल कहा जाता है।

आज परम्परा की आवाज उतनी प्रखर नहीं सुनायी पड़ती। इसकी तुलना मे परिवर्तन पर जोर ज्यादा है। सुविधा के लिए हम आज की स्थिति को आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक—इन चार स्तरों पर देख सकते हैं। आर्थिक क्षेत्र में, खेती और उद्योग में, आज के हिन्दुस्तान में जड़ से परिवर्तन की जरूरत है। इसमें बहस की ज्यादा गुंजाइश नहीं है। यदि हम नये ढंगों और नये औजारों की मदद नहीं लेते, तो हमारा अस्तित्व ही ख़तरे मे पड़ जायगा। कहा जा सकता है, कि इन क्षेत्रों में, उदाहरण के लिए खेती में, अभी भी बहुत-कुछ काम परम्परा के आधार पर ही चलता है। लेकिन यह हमारी अक्षमता का प्रतीक है, परम्परा के अन्धानुसरण का प्रमाण नही। बैलगाड़ी अब भी चलती है। यह विवशता है। इस तरह जिन्हें सन्तोष हो, वे चाहें तो कह लें—मजबूरी का दूसरा नाम परम्परा है।

राजनीति में भी जनतन्त्र को स्थापित करने के साथ, ऐसी बहुत-सी चीजें आज हमारे जीवन का अंग बन गयी हैं, जिन्हें, परम्परा से सीधे जोड़ना कठिन है। संसद मन्त्रिमण्डल, राजनैतिक दल, इत्यादि सैकड़ों संस्थान बिलकुल नये हैं। इनकी जड़ें परम्परा में नहीं बल्कि हिन्दुस्तान के निवासियों के सृजना-

त्मक स्फुरण में है। इनका स्रोत हमारे उस आत्म-विश्वास में नहीं है, जो सोचता है, कि यह सब हमारे यहाँ पहले भी था, बल्कि उस दूसरे प्रकार के आत्म-विश्वास में है, जो सोचता है, कि आज, इसी क्षण हम अपने विवेक से इनका सृजन करते हैं, और भविष्य का सामना करते हैं।

सामाजिक रिश्तों और संस्कृति के स्तरों पर परम्परा कुछ अधिक बलवती दीखती है। लेकिन यहाँ भी परम्परा-जनित आत्म-विश्वास और सृजनशील आत्म-विश्वास में टक्कर है। कला और साहित्य में यह संघर्ष काफ़ी मुखर है। यह कहना कठिन है, कि प्राधान्य परम्परा का है।

इस तरह हम देखते हैं, कि जैसे-जैसे परिवर्तन की गति तेज़ होती जाती है, परम्परावाद या तो कमजोर होता है, या अपनी शक्ल बदलने के लिए मजबूर होता जाता है।

यह तो हुई इतिहास की गति, जो आज परम्परा के विरुद्ध पड़ती दीखती है। लेकिन इतिहास और परम्परा की टक्कर को हम एक और तरह से भी हिन्दुस्तान में देख सकते हैं। पुनर्जागरण काल में परम्परा एक अति प्रतिष्ठित शब्द था। लेकिन उसी काल में नये रास्ते ईजाद करने की कोशिश भी की गयी। सच पूछिये, तो विशुद्ध परम्परावादी सत्रहवीं और अठारहवीं सदी का ही हिन्दुस्तान है। उस हिन्दुस्तान की सीमाओं और परम्पराओं को तोड़ कर समाज को नये ढंग से एकत्र करने की कोशिश ही पुनर्जागरण की असली प्रेरणा है। चूँकि तोड़नेवालों को भी परम्परा के प्रति आसक्ति थी, इसलिए उन्होंने परम्परा की नयी परिभाषा गढ़ना ज्यादा उचित समझा। सत्रहवीं-अठारहवीं सदी के लोगों के लिए परम्परा और रिवाज़ में अन्तर नहीं है। परम्परा इतिहास में बरता जानेवाला वह अवशेष है, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होता है। यहाँ यह बहस नहीं है, कि उन लोगों की यह मान्यता ठीक थी या नहीं। यों उनको सदियों के हमारे हिन्दुस्तानी पूर्वजों के साथ काफी अन्याय किया गया है, जो उन सभी लोगों के साथ किया जाता है, जो हार जाने के अपराधी होते हैं। बहरहाल, उनकी यह अन्तर्निहित धारणा थी। यह धारणा इतिहास और परम्परा को मिला कर चलती है। इसके विपरीत, पुनर्जागरण काल के लिए परम्परा वह है, जो इतिहास के निस्कलंक स्वर्णिम युगों में सार तत्त्व या मूल तत्त्व की तरह अन्वेषित की गयी। इस परम्परा के लिए इतिहास का नैरन्तर्य आवश्यक नहीं है। इस परम्परा के साथ 'महान' का विशेषण लगाना

जरूरी और आसान, दोनों हो गया। फलत: इतिहास में बहुत-सी खाली जगह छूट गयी। साथ ही परम्परा बरती जानेवाली चीज न रह कर, दार्शनिकों, अध्यापकों, शोधकर्ताओं और प्रचारकों की तलाश की चीज़ हो गयी। इस नयी परिभाषा के बल पर ही दयानन्द सरस्वती के लिए लम्बे इतिहास को नकार कर एक नये आन्दोलन का सूत्रपात करना सम्भव हो सका। लेकिन इतिहास शास्त्रार्थ और तत्त्व-मीमांसा से ज्यादा प्रबल है। उसने बदला लिया। उसने सिद्ध किया, कि आर्य समाज वैदिक युग की वस्तु न होकर हिन्दुस्तान की उन्नीसवीं सदी के मानस की एक लहर है, और इसी हैसियत से इतिहास में गिना जायगा।

इतिहास सिर्फ़ वही नहीं है, जो दो हज़ार बरस पहले घटित हुआ था, बल्कि वह भी है, जो पिछले सौ वर्षों में गुजरा है और वह भी, जो कल घटित होने की सम्भावना की तरह आज हमारे मानस को व्याकुल कर रहा है। आज जो कुछ हमारे मन में इच्छाओं, आवेगों, विचारों, अभावों या उपलब्धियों की तरह गुज़र रहा है, वह भी इतिहास है और हम उससे बच कर निकल नहीं सकते। इस इतिहास में सिर्फ़ स्वर्ण युग नहीं है, सिर्फ़ महान् परम्पराएँ नहीं हैं, बल्कि ऊँचा-नीचा, सोना-लोहा, हार-जीत—वह सब है, जो हमारे भीतर हमें सृजन करने, निर्मित करने, बिना पुरखों के दामन में मुँह छिपाये पूरी जिम्मेदारी के साथ परिस्थितियों का सामना करने के लिए तैयार करता है। इस दृष्टि से पिछले सौ वर्षों का इतिहास और परम्परा के बारे में लोगों की सतर्कता हमारे लिये ज्यादा नजदीक और संगत इतिहास है।

परम्परा को सिर्फ़ सार-तत्त्व या मूल-तत्त्व की तरह पहचानने की कोशिश में हमारे हाथ से यह नजदीकी इतिहास छूट जाता है। कोई वजह नहीं कि हम परम्परा को सिर्फ़ तात्त्विक विवेचन की चीज़ मानें, खासतौर पर यदि हम दर्शन के क्षेत्र में तत्त्ववाद के क़ायल न हों। यदि हम इस दार्शनिक लबादे को उतार फेंके, तो एक और प्रश्न खड़ा होता है: परम्परा या परम्पराएँ? इतिहास में हमें परम्पराओं के दर्शन होते हैं, और उनका मतलब भी समझ में आता है। लेकिन यह एक वचन 'परम्परा' तत्त्ववादी दर्शन की उपज है। अगर सबको आत्मसात् करनेवाली परम्परा जैसी कोई चीज़ है भी, तो वह काल-प्रवाह या ऐतिहासिक निरन्तरता का ही दूसरा नाम होगी। उस हालत में भी समूचा इतिहास पुनर्जागरण काल की सारग्राही परम्परा के विरुद्ध खड़ा होगा।

परम्परा की परिभाषा बदल देने से ही सीमित परिवर्तनवादियों ने परम्परा और रूढ़ि में फ़र्क किया। जिसे वे बदलना चाहते थे, उसका नाम उन्होंने रूढ़ि दे दिया, जिसे नहीं बदलना चाहते थे, उसे परम्परा कह कर पुकारा। दहेज-प्रथा रूढ़ि है, वेदान्त-दर्शन परम्परा। लेकिन यह फ़र्क तभी तक चल सकता था, जब तक सब दहेज-प्रथा को बदलना चाहते थे, और वेदान्त-दर्शन को नहीं छोड़ना चाहते थे। अन्य ऐसी कोई कसौटी नहीं है, जिसके आधार पर हम कह सकें, कि जातिप्रथा रूढ़ि है या परम्परा। बदलना चाहते हैं, तो रूढ़ि है, नहीं बदलना चाहते, तो परम्परा। एक साँस में रूढ़ियों को तोड़ने की बात कहना और परम्परा को बचाये रखने का आग्रह करना एक तरह के सामाजिक अवसरवाद की शब्दावली है, जो उपयोगी चाहे जितनी भी हो, नाकाफ़ी है।

सीमित परिवर्तनवादियों की ओर से एक और तर्क यह दिया जाता है, कि परम्परा के प्रति हम श्रद्धा-भाव रखें, लेकिन ग़लत परम्परा और सही परम्परा में विवेक करें। सही का पालन करें, ग़लत को त्याग दें। यह सलाह ऐसी ही है, जैसे हम बच्चे को शिक्षा दें, कि माँ-बाप का कहना मानो, लेकिन उसे यह भी छूट दें, कि इस विशाल संसार में वह जिसे चाहे ग़लत माँ-बाप, और जिसे चाहे सही माँ-बाप घोषित करे।

पिछले सौ वर्षों में हिन्दुस्तान को बदलने की कोशिश हुई है। इसमें धार्मिक आचार्यों, समाज-सुधारकों, लेखकों, शिक्षकों, नेताओं, फ़ैशनपरस्तों, नकलचियों, लफंगों, विदेशियों, सभी ने अपने-अपने ढंग से हाथ बँटाया है। सबके लक्ष्य एक नहीं थे, और उनकी रफ़्तार भी एक-सी नहीं थी। फिर भी कुल मिलाकर हिन्दुस्तान मध्ययुग से निकलकर इतिहास के आधुनिक युग में आया है। सृजनशीलता और विवेक के दायरे बढ़े हैं। इस प्रक्रिया में बहुत-सी परम्पराएँ टूटी हैं। अभी भी प्रक्रिया चल रही है। परम्पराएँ टूट रही हैं।

परम्पराएँ उन रस्सियों की तरह हैं, जो सामाजिक इकाई को बाँधती हैं। जब किसी समाज में बड़े परिवर्तन होते हैं, और परम्पराएँ टूटती हैं, तो एक ख़तरा यह बराबर बना रहता है, कि समाज बँधा न रह सके, टूट जाय। लेकिन हम देखते हैं, कि सत्रहवीं-अठारहवीं सदी का भारतीय समाज जितना खण्ड-खण्ड था, उसके मुक़ाबले में सामाजिक गठन और व्यापक ही हुआ है

टूटा नहीं है। इसका मतलब यह हुआ, कि परम्पराओं के अलावा और चीजें भी है, जो सामाजिक इकाई को बाँधती हैं। सच तो यह है, कि सामाजिक इकाई की लम्बाई-चौड़ाई में प्रसार होने का मतलब ही यह है कि बाँधने वाली कल्पनाओं के पुंज को नये सिरे से परिभाषित किया जाय। परम्परा की शब्दावली के भीतर ही परिवर्तित परिभाषाओं के दो स्वरूप हमें दिखलायी पड़ते हैं— धर्म और संस्कृति।

मध्ययुग के अन्त तक परम्पराओं के पुंज का नाम स्थूलतः धर्म था। पुनर्जागरण काल की पहली जागरूकता इस पुंज की उधेड़-बुन करने की है। जिस धर्म-अभिहित परम्परा-पुंज पर समाज गठित था, उससे सन्तोषजनक इकाई का निर्माण नहीं होता दीखता था। इसलिए धर्म की एक नयी परिभाषा, नयी व्याख्या देने की कोशिश की गयी, जो बहुत-सी परम्पराओं को त्याग कर नयी रस्सियाँ बँटने में सफल हो सके। मगर चिन्तन की चौहद्दी तब भी धर्म ही थी। धार्मिक सुधार आधुनिकता की ओर पहला कदम है।

बाद में इस नये व्याख्यायित धर्म की सीमाएँ भी दीखने लगी। धर्म की जगह एक नया शब्द प्रचलन में आया, संस्कृति। जिस तरह संस्कृति की कल्पना सत्तर-अस्सी वर्षो में हिन्दुस्तान में विकसित हुई है, उसमें धर्म का काफ़ी गहरा पुट है। कभी-कभी तो संस्कृति की व्याख्याएँ सुन कर लगता है, कि हम धर्म और धर्म के सामाजिक रूप की ही व्याख्या सुन रहे है। फिर भी संस्कृति धर्म के मुकाबिले में ज्यादा बड़ी, और गतिशील कल्पना है। इसमें धर्म, कला, साहित्य रीति-रिवाज, संस्थाएँ राजनीति, समाजनीति और इतिहास का भी बड़ा हिस्सा आ जाता है। इसके साथ ही संस्कृति की बहस में अध्यापकों और प्रोफ़ेसरों का जोर रहता है, मुल्लाओं, पादरियों का पुरोहितों का नहीं।

संस्कृति परम्पराओं का प्रभा मण्डल है। कम-से-कम अब तक उसकी व्याख्या इसी तरह की गयी है। यह सवाल मन में उठता है, कि जिस तरह धर्म की सीमा से अवगत होकर हमने संस्कृति के बृहत्तर दायरे में प्रवेश किया, क्या उसी तरह आज संस्कृति से अवगत होकर, किसी और बड़े दायरे में प्रवेश करने का अवसर नहीं आ गया है? वे जो परम्परावादी नहीं है, या परम्परा और परिवर्तन के बीच असमंजस में हैं, उनके मन में तो यह सवाल उठना ही चाहिए। और वे जो आज के, अर्थात् १९६५ के परम्परावादी हैं,

उन्हें भी इतना तो सोचना ही होगा, कि क्यों उन्हें परम्पराओं की वह शकल पसन्द नहीं है, जो सत्रहवीं-अठारहवीं सदी में थी, या जो उन्नीसवीं सदी के धार्मिक सुधारकों ने बनानी चाही थी, क्यों वे धर्म की जगह संस्कृति की चर्चा ज्यादा पसन्द करते हैं ?

हिन्दुस्तान के सभी निवासियों को नये सिरे से एक इकाई में बाँधने का ो स्वप्न पुनर्जागरण काल के विचारकों और नेताओं ने देखा था, वह कुछ द तक ही सफल हुआ। आखिरकार इस सामाजिक इकाई के दो टुकड़े हो ये: भारत और पाकिस्तान। क्या यह विफलता सिर्फ़ राजनैतिक विफलता ी ? क्या इसमें हमारी बौद्धिक विफलता भी अन्तर्निहित नहीं है ?

जिसे हम सामाजिक इकाई की अनुभूति कहते हैं, वह हमारी चेतना मे 'हम' और 'वे' की दो कोटियाँ निर्धारित करती हैं। धर्म आधारित परम्परागत 'हम' और 'वे' एक तरह की कोटियाँ हैं। संस्कृति पर आधारित नव-परम्परागत 'हम' और 'वे' की कोटियाँ धर्म की कोटियों से भिन्न हैं, लेकिन कितना दूर तक ? वांछनीय 'हम' और 'वे' तक पहुंचने के लिए हमारे विवेक और सृजनशीलता को अभी कितना रास्ता तय करना शेष है ?

मेरी समझ में भारत-पाकिस्तान बँटवारे के पीछे भी परम्पराओं की जकड़-बन्दी है, दिमागी तौर पर सर्वथा परम्परा युक्त, सृजनशील आत्म-विश्वासी संवेदा-के विकसित न हो पाने की विफलता है। हिन्दू मुसलमान इन दो टुकड़ों के ठोस सन्दर्भ में देखने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। उदाहरण के लिए एक जमाने में कहा जाता था, कि 'सच्चा हिन्दू' और 'सच्चा मुसलमान' एक दूसरे के अधिक निकट होते हैं। अकबर इलाहाबादी, गाँधी जी और एनी बेसेन्ट जैसे अलग-अलग तरह के लोगों में इस व्यापक धारणा की झाँकी मिलती है। तमाम शास्त्रार्थ, अनुसन्धान, सन्त-सूफी-वाणी, दीन इलाही और प्रार्थना सभाओं के बावजूद आज क्या इसका विलोम ज्यादा सही नही मालूम पड़ता : 'झूठा हिन्दू और झूठा मुसलमान एक दूसरे के ज्यादा निकट होते हैं ?' 'झूठा' से मेरा मतलब उससे है, जिसे हिन्दू धर्म या इस्लाम की परम्पराओं (सिर्फ रूढ़ियाँ नहीं) को तोड़ते डर नहीं लगता।

धर्म की संस्कृति से उलझने की कोशिश मूलत. परम तत्त्व से निकल कर इतिहास में आने की कोशिश है। इस क्षेत्र में आने पर नयी समस्याएँ खड़ी हो गयीं। एक तरफ़ तो आर्य संस्कृति और द्रविड़ संस्कृति की बहस चल

पड़ी, दूसरी तरफ हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति की। मुख्य बौद्धिक चुनौती यह थी—क्या संस्कृति की कोई ऐसी सन्तोषजनक परिभाषा हो सकती है, जो इस समूची सामाजिक इकाई को कई केन्द्रों की जगह एक केन्द्र प्रदान कर सके? सत्याग्रह युग (बीसवीं सदी के तीसरे और चौथे दशक) में इसका सबसे चलता हुआ जवाब 'समन्वित संस्कृति' की धारणा में दिया गया। लेकिन 'समन्वित संस्कृति' एक केन्द्र की स्थापना नहीं कर सकी, वह कई केन्द्रों के सह-अस्तित्व तक ही सीमित रही। यदि बँटवारे को दूर करना है, तो संस्कृति की शब्दावली छोड़कर किसी और केन्द्र का निर्माण करना होगा—पाकिस्तान को भी, भारत को भी। धार्मिक दीन इलाहीपन की तरह समन्वित संस्कृति ने भी एक नये शास्त्रार्थ को जन्म दिया : 'असली संस्कृति' बनाम 'संकुचित संस्कृति'। यह बहस भी सुनायी पड़ती है। इसके पहले कि धर्म की तरह संस्कृति को भी हम किसी और बड़ी संवेदनशीलता में पचा लेते, बँटवारा हो गया। भारत-पाकिस्तान विभाजन धार्मिक विफलता नहीं है, गहरे स्तर पर सांस्कृतिक विफलता है। जिन्ना से लेकर अय्यूब खाँ तक का नेतृत्व इस्लाम धर्म के बूते पर नहीं है (क्योंकि वे धार्मिक नेता नहीं है), बल्कि मुस्लिम संस्कृति के नाम पर है।

परम्पराएँ संस्कृति के प्राण तत्व की तरह हैं – चाहे वह 'असली संस्कृति' हो या 'संस्कृति हो, 'समन्वित संस्कृति' हो' या 'शुद्ध संस्कृति हो।' धर्म जितनी ग़ैर-ज़रूरी स्मृतियाँ जगाता है, संस्कृति उससे कम नहीं जगाती। इसीलिए उदाररूप में भी संस्कृति से अनावश्यक उलझाव एक केन्द्र का नहीं, कई केन्द्रों का निर्माण करता है। भारत-पाकिस्तान में जरूरत सांस्कृतिक समन्वय की नहीं, संस्कृति से मुक्ति की है। क्या धर्म-निरपेक्षता की तरह हम संस्कृति-निरपेक्षता की विधेयक कल्पना नहीं कर सकते ?

अन्त में एक दूसरी विचार पद्धति की ओर देखना भी जरूरी है। हम धर्म, संस्कृति और परम्परा के मुकाबले में विवेक और सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सृजनशीलता को खड़ा करते हैं। शुद्ध विवेक की ऐतिहासिक सीमा-बद्धता को आज प्रमाणित करने की जरूरत नहीं है। यह ऐतिहासिक सीमाबद्धता परोक्षतः विवेक पर परम्परा का फन्दा ही है। अभी दुनिया एक ऐसे दौर से गुज़री है, जब आदमी विवेक की ऐतिहासिक सीमाओं से घबरा कर विवेकेतर शक्तियों की शरण में मुक्ति और स्थिरता की कामना करने लगा था। इसकी एक परिणति फ़ासिज्म में हुई।

हमें यह मानकर चलना होगा, कि विशुद्ध वस्तुपरकता उतनी ही असम्भव है, जितनी विशुद्ध आत्मपरकता। हम बराबर, उस हाशिये पर बेचैन चक्कर काटते हैं, जहाँ वस्तु और आत्मा की सीमा-रेखायें मिटती दीखती हैं। इस स्थिति को वह कितनी ही पीड़ादायिनी क्यों न हो, हमें स्वीकार करना पड़ेगा।

फिर विवेक और सृजनशीलता के भरोसे परम्परा-भक्ति का क्या मतलब रह जाता है ? विवेक की ऐतिहासिक सीमाबद्धता एक बात है, और विवेक को जान-बूझ कर सीमाओं में बाँध देना दूसरी बात है। कहा गया है, कि स्वतन्त्रता ऐतिहासिक अनिवार्यता का अभिज्ञान है। मगर एक बार जब हम उस अनिवार्यता के दबाव से अवगत हो जाते हैं, तो वह हमारे लिए चुनौती की तरह आता है। ऐतिहासिक अनिवार्यता की कोई दलील हमें विवेक को सचेत और अबाध रूप में प्रवाहित करने की मानवीय जिम्मेदारी से मुक्ति नहीं दिला सकती। इसलिए जब हम सृजनशीलता से प्रवृत्त होते हैं, तो एक तरह की आन्तरिक बन्धहीनता हमारे सृजन की पहली और आवश्यक शर्त हो जाती है।

अगर सोचने का यह ढंग सही है, तो इससे एक और रोचक नतीजा निकलता है। 'युगबोध' तक अपने को सीमित कर सृजनशीलता से प्रवृत्त होना भी आखिरकार परम्परा के प्रति शीश झुकाना ही है। हम परम्पराएँ इसलिए नहीं तोड़ते, कि ऐसा करना युग की माँग है, बल्कि इसलिए कि हमारा सम्पूर्ण विवेक इसकी माँग करता है। इतिहास की सीढ़ियों में यह जो 'युग' सरीखी चीज हमें दीखती है, वह अन्ततः चेतना की स्थापित सीमाओं का नाम नहीं है, बल्कि नितान्त सीमाहीनता की ओर चेतना के फेंके गये पाश का नाम है।

इसे ठीक-ठीक समझना जरूरी है। सीमा का विवेक खुद विवेक को उस सीमा से बड़ा बना देता है। इसलिए विवेक का निजी आयाम सीमाहीनता की ओर है। जब हम इतिहास की ओर पीछे मुड़ कर देखते हैं, और हर युग की सीमाओं से अवगत होते हैं, तो इन सीमाओं की उपस्थिति जितनी अपने-आप में है, उतनी ही वह हमारे मुड़ कर देखने से उत्पन्न होती है। इसलिए विभिन्न युगों की सापेक्षता, हमारी अपनी मुक्ति का ही स्वरूप है। इसलिए आज, इस क्षण जब हम सृजन करते हैं, तो वह हमें परम्परा से पूर्णतः मुक्ति दे देता है। बेशक आनेवाले युग हमारी सीमाओं को देखेंगे और

हमारी सृजनशीलता में भी परम्परा के गहरे तत्वों की छान-बीन करेंगे। ऐसा लाजिमी ही नहीं, खुद उन आनेवालों की मुक्ति के लिए जरूरी है। लेकिन हमारी सीमाओं का अस्तित्व आज नहीं है—उनका जन्म तब होगा जब हमें कोई और पीछे मुड़ कर देखेगा।

इस प्रकार 'हर युग की ऐतिहासिक सीमाएँ होती हैं, या 'हर युग नितान्त शून्य में नहीं, बल्कि जो कुछ उसे धरोहर के रूप में मिला है, उसी पर आगे के निर्माण की कोशिश करता है', इस तरह के ऐतिहासिक सत्य परम्परा के पक्ष में नहीं, बल्कि विवेक के, नितान्त परम्पराहीनता के पक्ष में पड़ते हैं।

धर्मनिरपेक्षता की खोज में–२

धर्मांधता और धर्मनिरपेक्षता के इस टकराव में क्या 'आधुनिकता' से कोई हल निकलता है? जिसे हम आधुनिकता करके जानते हैं वह ख़ासी घुलनशील चीज़ है। वह इस्लामी परंपरावाद के अलग्योझे में घुल जाती है और मौलाना हाली के मुसद्दस और अल्लामा इक़बाल के निखिल-इस्लामवाद को जन्म देती है। आधुनिकता क्षेत्रीयता में भी घुल जाती है और उस अजीबो-ग़रीब प्रादेशिक विलायतीपन को जन्म देती है जिसके दर्शन हमें कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और दिल्ली में होते हैं। फिर यह आधुनिकता टी० एस० इलियट में घुल जाती है और एकमात्र ईसाई समाज की परिकल्पना तथा धर्मनिरपेक्षता के विरुद्ध इलियटवादी जेहाद को जन्म देती है। आधुनिकता का पहला थपेड़ा हिंदी मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को विचलित करता है। भारतेन्दु आधुनिक हिंदी साहित्य के बाबा हैं। उनकी शिव धनुष जैसी प्रगतिशीलता के बारे में हिंदी आलोचना के परशुराम कम्युनिस्ट आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा ने जो ललकारता हुआ श्रद्धाभाव व्यक्त किया है वैसी श्रद्धा पाने के लिए पंडित सुमित्रानंदन पंत लाखों पुरस्कारों के बाद भी तरस गये। और मैं डॉ० राम-विलास शर्मा की धर्मनिरपेक्षता पर शंका करूँ यह ताब, यह मजाल, ये ताकत नहीं मुझे! लेकिन नयी हवा में प्रचारती हुई भारतेन्दु की कुछ पंक्तियाँ हम देखें।

> धिक तिनकहँ जे आर्य होय यवनन को चाहैं,
> धिक तिनकहँ जे इन से कछु संबंध निबाहैं।
> उठहु बीर तरवार खींचि मारहु धन संगर,
> लौह लेखनी लिखहु आर्य बल यवन हृदय पर।

बेशक ये पंक्तियाँ नाटक का पात्र बोलता है। लेकिन भारतेन्दु के मन में यहाँ और अन्यत्र भी जो घुमड़ रहा है वह छिपा नहीं है। इसी तरह फ़िरंगी साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रतिरोध के रूप में भारतेन्दु की ये पंक्तियाँ अक्सर उद्धृत की जाती हैं और लोग इन्हें खूब जानते हैं।

अंगरेज़ राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी।

लेकिन इन पंक्तियों के ठीक पहलेवाली पंक्तियाँ कम उद्धृत होती हैं और उन्हें लोग जानते भी कम हैं।

लरि वैदिक जैन डुबाई पुस्तक सारी,
करि कलह बुलाई जवन सैन पुनि भारी।
तिन नासी बुधि बल विद्या धन बहु बारी,
छाई अब आलस कुमति कलह अँधियारी।

यहाँ भी कई चीजें एक साथ घुस मिल गयी हैं। लेकिन भावनाओं का यह जोशाँदा सौदा हाली या इक़बाल के स्वाद से अलग है। इस घोल में साफ भौगोलिक चौहद्दी का लाभ है। इस भावना की सार्थकता 'वे' विदेशी और 'हम' स्वदेशी के दो टूक विभाजन पर निर्भर है। इस तरह धर्म, भारत की गौरवमयी संस्कृति, भीतरी कलह का दुःख, देशभक्ति, समाज सुधार, एका और स्वाधीनता की पुकार यह सब भारतेन्दु में है। सिर्फ़ 'हम' एक सीमित 'हम' है। यहाँ भी हम तराज़ू के पलड़े का झुकाव देख सकते हैं। वैष्णव हरिश्चंद्र जब इस नये मैदान में पैर रखता है तो कहाँ जाता है? धर्म से धर्मनिरपेक्षता की ओर? समान दूरी के अर्थ में नहीं, धर्म की अपर्याप्तता के अर्थ में। हाँ, लेकिन, यह 'हम' कैसा है—धर्मांध है या धर्मनिरपेक्ष? क्या 'नील देवी' नाटक की घटना भारतेन्दु के मन में धार्मिक अनुभूति की तरह करकती है या इतिहास के अन्याय की एक तड़प है, जो अपना समाधान माँगती है? 'श्री चंद्रावली' से 'नीलदेवी' तक कितना और किस तरह का फ़ासला है? धार्मिक अनुभूति कहाँ ख़त्म होती है और ऐतिहासिक अनुभूति कहाँ शुरू होती है? आधुनिकता की नयी हवा के साथ सारे तत्त्व गड्डमड्ड होते हैं।

सच कहिए तो हम एक निरापद सिद्धांत की स्थापना कर सकते हैं। जब भी दो धार्मिक संप्रदायों के बीच की सीमा रेखा गरम होने लगती है तो हर संप्रदाय के मर्म में जो धार्मिक अनुभूति है उसकी जगह ऐतिहासिक अनुभूति लेने लगती है। तनाव बढ़ता है। विचित्र बात यह है कि आख़िरकार ऐतिहासिक अनुभूति धर्मनिरपेक्ष अनुभूति है।

जैसे-जैसे हम उन्नीसवीं सदी की ओर बढ़ते हैं, पच्छिम की हवाएँ आती हैं और चिंता में डालनेवाले तत्त्व उभरते हैं। परम्परा, संस्कृति, देशभक्ति

राष्ट्रीयता —ये सारी भावनाएँ इस नयी धार्मिक ऐतिहासिक पहचान के सर्व-ग्रासी प्रश्न से जुडने लगती हैं। धर्म जैसा पहले समझा गया था वैसा धर्म नहीं रह जाता, इतिहास से जो ध्वनियाँ पहले निकलती थीं, वैसी ध्वनियाँ नहीं निकलतीं। शुरू में जिन दो तरह की धर्मनिरपेक्षताओं का उल्लेख किया गया वे एक दूसरे से लिपट कर नये भँवर पैदा करती हैं। ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि जो लोग ज्यादा धर्म में डूबे हुए हैं वे कम धर्मांध हैं, और जो धर्म की सतह पर हैं वे ज्यादा धर्मांध हैं। लेकिन मन का यह बुखार, ये तेवर पहले की हिंदी कविता में नहीं मिलते। तब क्या मध्यकालीन हिंदी साहित्य के अध्ययन से कुछ काम लायक नतीजे निकलते हैं ?

मध्यकाल में सवाल का रूप सीधा है। जो कुछ मिलाप या समन्वय की ओर झुकता है, धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया का अंग है। जो अटकाव या अलगाव पैदा करता है, वह इसके विपरीत है। मिलाप या समन्वय के पक्ष में दबाव उस प्रक्रिया से पड़ता है जिसे मैंने आरम्भ में समान दूरीवाली धर्मनिरपेक्षता कहा है।

अब हम हिंदी साहित्य की उन ढाई तीन शताब्दियों को देखें जिन्हें इतिहासकारों ने भक्तियुग कहा है। श्रेष्ठ कविता का वह आरम्भिक युग है। अगर हम शुरू में खुसरो की फुलझड़ियों को छोड़ दें तो चारों ओर धर्म ही धर्म है। लेकिन सिर्फ़ हिंदू धर्म नहीं है। हिंदू, इस्लाम और दोनों से परे कुछ और, धर्म के विविध रूप हैं। ये सब आवाजें मिल कर हिंदी साहित्य का मिज़ाज बनाती हैं, इसे न भूलना चाहिए। दुनिया के अधिकतर देशों में जब धर्म का दौरदौरा रहता है तो पूरे माहौल में एक ही धर्म रहता है। विधर्म नहीं होता। और जब धर्म का पाश टूटता है तो उसके तोड़नेवाले उसी धर्म से उपजते हैं, विधर्मी नहीं होते। भक्तिकाल का माहौल बहुधर्मी है। भक्ति काव्य कहने से मन में फौरन सूरदास या तुलसीदास का नाम आता है। लेकिन इन कवियों के महत्त्वपूर्ण अग्रज भी हैं—कबीरदास और जायसी।

कबीरदास को हम क्या कहें ? धर्मांध या धर्मनिरपेक्ष ? इस तरह पूछने पर फौरन लगता है कि सिर्फ दो चौखटे काफ़ी नहीं हैं। और भी होने चाहिए। इसी से साबित होता है कि धर्मनिरपेक्षता का सवाल उतना इकहरा नहीं है जितना सिर्फ़ यूरोप के अनुभव को देख कर मान लिया जाता है। हिंदू और मुसलमान दोनों से समान दूरी पर अपने को जमाने की कबीर की कोशिश को सब जानते हैं। इस मंशा से वह धर्म को बल्कि दोनों धर्मों को निचोड़

हैं। धर्म का एक काम यह भी होता है कि वह कुछ दुनियावी चीजों को पावनता' से मंडित करता है और बाक़ी को 'अपावन' बनाता है। धर्मांधता में यह पावन-अपावन टक्कर बड़ी उग्र हो जाती है और बहुतों को लपेटती है। कबीरदास की निचोड़ धर्म के पावन तत्त्व को मनुष्य की सहज आंतरिकता में सीमित कर देती है। दुनिया खाली हो जाती है। बाहरी बातें 'पावनता' के घेरे के बाहर हो जाती हैं, गौण या निरर्थक हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में, यह ललकारकर चालू पावनता को धर्मनिरपेक्षता में बदलने का ढंग है। इन सब धर्मों से समान दूरी का प्रयास, धर्मनिरपेक्षता उपजाता है। यह बहुधर्मी समाज की खास शैली है।

लेकिन यह ज़रूरी नहीं है कि कबीरदास की तरह सब धर्मों से कूद कर बाहर आने पर ही यह 'सार तत्त्व' की अनुभूति हो। अपने धर्म के भीतर रह कर भी निचोड़ने का काम हो सकता है और समान दूरीवाली धर्मनिरपेक्षता बन सकती है। जायसी और उनके बाद के भक्तकवि इसके उदाहरण हैं। सूफ़ी कवि जायसी की अत्यन्त जटिल काव्य-प्रक्रिया के बारे में संक्षेप में कुछ कहना बहुत कठिन है। इसलिए भी कि उनके बारे में आम जानकारी कम है। जायसी कबीर से भिन्न हैं। वह अपने इस्लाम में दृढ़ हैं। लेकिन अभि-व्यक्ति के लिए लोकभाषा को चुनते हैं। यानी फ़ारसी से इस्लाम का अना-वश्यक रिश्ता तोड़ते हैं। पद्मावत में वह मानवीय प्रेम के उस रसायन का आविष्कार करते हैं जो मनुष्य की मुट्ठी भर धूल से उठा कर 'बैकुंठी' बनाता है। यहां तक तो ईरान के सूफ़ियों ने भी किया। लेकिन जायसी अपने परि-वेश और काव्य-माध्यम के चुनाव के कारण ईरानी सूफियों से कुछ आगे बढ़ने को विवश हैं। ईरान के सूफ़ियों के सामने सिर्फ़ एक धर्म था, इस्लाम उसी को उन्होंने प्रेम रसायन डाल कर निचोड़ा। लेकिन जायसी के सामने दुहरी चुनौती थी। अगर यह रसायन मनुष्य मात्र के हृदय में है तो सबको निचोड़ेगा। इस तरह एक धर्म का सार तत्त्व सब धर्मों का सार तत्त्व बनता है। जायसी का तसव्वुफ़ आगे बढ़ कर, बिना अपने इस्लाम को छोड़े, हिंदू धर्म के मर्म को स्पर्श करता है। कविता में एक तत्काल नतीजा यह निकलता है कि धारणाओं, प्रत्ययों, प्रतीकों, पुराकथाओं, मिथकों, शब्दों की एक उभयधर्मी, या बहुधर्मी दुनिया खड़ी हो जाती है, जो किसी एक धर्म के पाश से मुक्त हो जाती है। दीवारें टूटने लगती हैं। 'कविलास' और 'जन्नत' का फ़र्क मिट जाता है। कबीरदास की ललकारती आंतरिकता तो अपने से बाहर

किसी पावनता को नहीं मानती। लेकिन जायसी का प्रेमरसायन वेहिचक फैलता है। पद्मावती की तरह जिसे छूता है 'पावन' बनाता चलता है। यहाँ तक कि पावन-अपावन का परिचित अंतर मिट जाता है। बसंत पूजा धर्म या कुफ़् नहीं रह जाती। वह उस अनुपम उल्लास का प्रतीक बन जाती है जहाँ 'वैकुंठी' तत्त्व का निवास है। संक्षेप में जकड़बंद धार्मिक प्रतीक प्रत्यय या मानवीय प्रतीकों में बदल कर धर्मनिरपेक्ष होने लगते हैं।

लेकिन जायसी का कलेजा इतना ही नहीं है। वह इससे भी बड़ा है। अक्सर प्रेम-रसायनवादी धर्मों की यथार्थ टकराहट के समय कन्नी काट जाते हैं या मीठी बातें बोल कर चुप हो जाते हैं। प्रेम-रसायन बस मुँह में चुभलाने की चीज़ रह जाती है। लेकिन जायसी के पद्मावत की बनावट दूसरी है। उसके दो हिस्से हैं। पहला अंश—रतनसेन और पद्मिनीवाला—ख़ासा अलौकिक और जादुई है। यहीं वह प्रेम-रसायन परिभाषित होता है। दूसरा अंश—अलाउद्दीन बनाम चित्तौड़वाला—लगभग यथार्थवादी और ऐतिहासिक घटना सरीखा है। इस तरह सत्य के दो स्तरों की मुठभेड़ है। कलेजा इसमें है कि जायसी अलाउद्दीन-चित्तौड़ की टक्कर को बेलाग-लपेट न सिर्फ़ शुद्ध हिंदू-मुसलमान संघर्ष के रूप में वर्णित करते हैं, बल्कि पूरी कथा में अलाउद्दीन की जीत अवश्यंभावी नियति के रूप में मँडराती है। जायसी कहीं लीपापोती नहीं करते। लगता है कि वह जान-बूझ कर उस अलौकिक प्रेम-रसायन को दुखती रगों के संग्राम में डालकर परखना चाहते हों कि इसमें कुछ दम भी है या सिर्फ़ लफ्फ़ाज़ी है। 'वैकुंठी' प्रेम का प्रतीक विचारा चित्तौड़ दिल्ली के प्रबल प्रताप के सामने कहाँ तक ठहरेगा ? रतनसेन पद्मावती का वह सारा मायालोक अलाउद्दीन की जीत की घड़ी आते ही जल कर राख हो जाता है। लेकिन सतही इस्लाम की जीत की यह घड़ी, उसकी नितांत निरर्थकता की घड़ी बल्कि पद्मावती की निष्कलंक लपटों के आगे समूची हार की भी घड़ी है। पद्मावत का अंत यूनानी या यूरोपीय अर्थ में ट्रैजडी नहीं है। वह कई स्तरों पर एक साथ विवेक-दृष्टि के परिप्रेक्ष्य का उदय है। जिस जौहर से अलाउद्दीन डरता रहा वह हो कर रहा। वह मुट्ठी भर धूल उड़ा देता है और कहता है 'पृथिवी झूठी है'। तृष्णा फिर भी नहीं मानती। चित्तौड़ पर वह अधिकार करता है और कथा का अंत इस दोहे से होता है।

जौहर भईं इस्तिरीं पुरुख भये संग्राम।
पातसाहि गढ़ चूरा चितउर भा इस्लाम ॥

आलोचकों ने इधर ध्यान नहीं दिया है लेकिन अंतिम टुकड़े 'चितउर भा इस्लाम' में जो जटिल-व्यंग्य अंतर्निहित है, उससे अर्थ की हजार पर्तें खुलती है। इन पर्तों के पीछे सिर्फ़ तसव्वुफ़ और 'धार्मिक उदारता' नहीं। कृतिकार के रूप मे जायसी अपनी ममता सब को देते हैं, यहाँ तक कि राघवचेतन को भी। इस ममता के बावजूद मूल्यों का विवेक धारदार ही बनता है। कुंद नहीं होता। ममता और विवेक के इस रिश्ते में हज़ार पर्त्तें बनती है और समानदूरी की स्थापना होती है। यह 'उदारता' से ज्यादा प्रतिबद्ध दृष्टि है।

सूरदास और तुलसीदास से लोग ज्यादा परिचित हैं। अतः उनकी व्याख्या की अधिक आवश्यकता नहीं है। जायसी में परमतत्व के प्रति जो तड़प है, उसका एक और रूप इन भक्त कवियों में मिलता है। यहाँ हम विचार मे इतनी बात रख लें कि सूरदास की धार्मिक अनुभूति परम दर्शन को इतना घनत्व दे देती है कि वह उनके भीतर ही समूचा समा जाता है। बाहर कोई वृन्दावन नहीं बचता। या अगर बचता भी है तो असली वृन्दावन के निमित्त छूछे संकेत की ही तरह। जब कि तुलसीदास थोड़े भिन्न हैं। यह सही है कि उनकी धार्मिक अनुभूति भी मुख्यतः उनके मर्म में ही लहराती है, लेकिन कुछ बाहर भी छलकती है। हमारी रोजमर्रा की दुनिया में भी पावन-अपावन का भेद पैदा करती दिखती है।

जो भी हो, इस विविध संत-सूफ़ी-भक्ति साहित्य का मिला-जुला निचोड़ यही है कि धर्म को 'आंतरिक अनुभूति' की तरह परिभाषित किया जाये। ये सारे कविगण धर्म को एक तरह के भीतरी संगीत में बदल कर अपने-अपने ढग से समान दूरीवाली धर्मनिरपेक्षता तक पहुँचते हैं और दुनिया को इसके लिए काफ़ी आज़ाद छोड़ देते हैं कि अपने इहलौकिक क़ायदे-क़ानून ख़ुद बनाये, बशर्ते कि अंतर्वर्ती बैकुंठी तत्त्व में ख़ाहमख़ाह दखल न दे। बहुधर्मी समाज को जोड़े रखने के लिए मध्ययुगीन मानस तरह-तरह से इस धार्मिक अनुभूति को गाता है। जितना खुला काव्य हिंदू मुसलमान दोनों को छूनेवाली लोकभाषा मे हुआ, उतना विदेशी भाषा में संभव नहीं था। जैसा मैंने पहले कहा, सूरदास की धार्मिक अनुभूति लगभग कुल की कुल कवि के भीतर ही पर्याप्त है। अंतरपट का उघड़ जाना ही उसकी प्रामाणिकता है। जब कि तुलसीदास की अनुभूति अपने प्रमाण के लिए बाहर का, उदाहरण के लिए वेद-पुराण-स्मृति आदि का भी सहारा लेती है। इतने से अंतर से बाद में कितना भेद पड़ गया इसका अच्छा संकेत हिंदी कविता के विकास के अगले चरण से मिलता है।

बाद की, यानी सत्रहवीं-अट्ठारवीं शताब्दी की कविता ने सूरदास के प्रतीक राधा कृष्ण के चारों ओर एक नया काव्यलोक ही रच डाला, जिसकी मुख्य प्रवृत्ति उत्तरोत्तर ऐसी धर्मनिरपेक्ष शैली निर्मित करने की रही जिसमें एक साथ हिंदू-मुसलमान सब हिस्सा ले सकें। इसके प्रतिकूल. रामचरित मानस से बाद वालों का कोई विशेष सर्जनात्मक प्रयोजन नहीं सिद्ध हो सका।

इस तरह धार्मिक तत्त्ववाद एक हल है जिसे हिंदी कविता ने धर्मों के टकराव के बीच ठोस तरीक़े से सामने रखा। अगर यह हल सिर्फ़ तुलसीदास या सिर्फ़ सूरदास से भी आया होता तो हमारे मन में इसकी तस्वीर अच्छी, लेकिन एकाकी और दुर्बल धारा की ही तरह होती। लेकिन चूंकि इसमें कबीरदास संत और जायसी सूफ़ी जैसे दूसरे किनारों के भी लोग हैं, और इन दोनों के साथ इस रंग में औसत कविताओं की ख़ासी परम्पराएँ हैं, इसलिए हम देख सकते हैं कि हिंदी के मिजाज में इन सबके घोल-मेल में बड़ी संभावनाएँ थीं। इन संभावनाओं के सीधे प्रवाह में जब अटकाव पैदा हुआ तो कविता ने अपना रूप बदला और एक दूसरे माहौल में समान ज़मीन तैयार की गयी।

धर्मन्विता और धर्मनिरपेक्षता की सीधी बहस में विषयवस्तु की ओर ध्यान बरबस चला आता है। लेकिन काव्य-सत्य में निहित समूची सम्भावना को देखने के लिए विषयवस्तु और रूप-विधान को अलग न करना उचित है। और यहीं लोकप्रचलित धर्मनिरपेक्ष तत्त्व—यानी बोलचाल की भाषा बड़े पैमाने पर काम करती दीखती है। बोलचाल की भाषा धर्मनिरपेक्ष इसी अर्थ में होती है कि धर्मों के अन्तर के बावजूद सभी लोग उसे बोलें। भाषा सबकी होकर धर्मनिरपेक्ष हो जाती है। जैसा हम जायसी में देखते हैं। समन्वय के पक्ष में दबाव पैदा होता है। इन धार्मिक तत्त्ववादी कवियों ने अपने-अपने ढंग से भाषा की चूलें ढीली कीं और सब धर्मों के लिए समान उपयोगी कविता-भंगिमा, समान छन्द-क्रम और समान प्रतीक योजना बनायी। एक ही अवधी से जायसी और तुलसीदास दोनों का काम चलता है। कविरूप में दोनों एक ही मनोभूमि के अंग हैं। अगर जायसी अपनी बात फ़ारसी में कहते और तुलसीदास संस्कृत में, तो प्रेम-रसायन या भक्ति-रसायन में समानता के बावजूद दोनों के दायरे अलग रहते। जैसे शेख़ सादी और जायसी की दुनियाएँ अलग हैं। दरवेश दोनों हैं। यहाँ संस्कृत और फ़ारसी हिन्दू और मुसलमान

के साथ क्रमश: नत्थी हो गयी थीं। लोकभाषा-हिन्दी दीवारें तोड़ती है और समन्वय का आह्वान करती है।

इससे कुछ समझ में आता है कि गाँधी जी और उनके अनुयायियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान क्यों इन कवियों को इतना उपयोगी पाया। इसे आँखों से ओझल करने पर तो 'आधुनिक' जिन्ना साहब 'धार्मिक' गाँधी जी से ज्यादा धर्मनिरपेक्ष लगेंगे। आज धार्मिक तत्त्ववाद को धर्मांधता या धार्मिक विषमता का आख़िरी इलाज या महत्त्वपूर्ण इलाज भी मानना कठिन है। कई कारण हैं। ख़ास कर यही कि धार्मिक तत्त्ववाद धर्म को निचोड़ चाहे जितना दे लोगों की पहचान फिर भी उनके धर्म के ऊपरी छिलके से ही होती रहती है। धार्मिक तत्त्ववाद भी यही मान कर चलता है। ताक-झाँक साहब-सलामत बढ़ जाती है लेकिन गिरोह नहीं टूटते। आज के शब्दों में कहें तो यह एक तरह का 'सर्व-सम्प्रदायवाद' है 'ग़ैर सम्प्रदायवाद' नहीं। लेकिन ग़ैर-सम्प्रदायवाद इतनी आसान चीज़ भी नहीं है कि मध्ययुग के इस हिन्दी काव्य को बिलकुल बेकार ही मान लिया जाये।

लेकिन हिन्दी कविता घुलावटी तेज़ाब की तलाश में तात्त्विक धार्मिक अनुभूति पर ही टिक कर नहीं बैठ गयी जैसा भारत की दूसरी भाषाओं में हुआ। धर्म के अतिरिक्त हिन्दी के मिज़ाज में एक और बीज था जिसकी पहली झलक अमीर ख़ुसरो की हिन्दी कविता में मिलती है। सत्रहवीं-अट्ठारहवीं सदी की कविता में, जिसे फ़िलहाल इतिहासकारों ने रीतिकाल नाम दे रखा है, धीरे-धीरे एक दिलचस्प प्रवृत्ति उभरती है कि साहित्य के केन्द्र से धार्मिक अनुभूति को ठेलकर वहाँ एक ललित रसमय अनुभूति जमा दी जाये। रीतिकाल या रीति काव्य नाम इस पूरी कोशिश को नहीं बल्कि उसके अंश को ही व्यक्त करता है। लेकिन यहाँ नाम को लेकर विवाद उठाने की जगह या ज़रूरत नहीं है। इसलिए मैं इन शब्दों का प्रयोग तो करूँगा लेकिन कुछ ज्यादा खुले अर्थ में। इसके बीज तो पहले भी थे, लेकिन बाहर बाद में ही आयी। इस नये मोड़ में शायद केन्द्रीय व्यक्ति अकबर के महत्त्वपूर्ण कवि, योद्धा, दरबारी, राज पुरुष और कवियों के आश्रयदाता अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना थे। एक ऐसा राजपंथ निकला जिसमें जायसी और तुलसीदास का रहा-सहा भेद भी जाता रहा। यहाँ हिन्दू-मुसलमान सब एक ही काव्यभूमि में बेहिचक चौकड़ियाँ भर सकते थे। रीतियुग को रीतिबद्ध या रीतियुक्त धाराओं में बाँट कर देखने से

भ्रम पैदा होता है। कविता के अंदरूनी उत्स में कोई भेद नहीं है। अन्तर के बावजूद इस सारे काव्य की व्यापक प्रवृत्ति अनुभूति की कमनीयता और 'सही उक्ति' की खोज है, जो कलात्मक माध्यम के प्रति अत्यन्त जागरूक है। रीति कविता की जीवनीशक्ति और उसके औचित्य के बारे में भी बीसवीं सदी में काफ़ी शंकाएँ उठायी गयी हैं। कभी उसकी नैतिकता को लेकर, कभी उसकी रूढ़िवादिता को लेकर और अक्सर इसलिए कि यह सारा काव्य दरबारी और सामन्ती है। उँगली उठानेवालों में क्या आदर्शवादी, क्या यथार्थवादी, क्या 'भारतीय संस्कृति' वादी और क्या कम्युनिस्ट धर्मनिरपेक्षतावादी, सभी रहे हैं।

लेकिन हमारी ओर से सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी की ब्रजभाषा कविता कुछ ज्यादा समझदार विश्लेषण की हक़दार है अगर हमें उन धर्म-निरपेक्ष स्फुरणों को ठीक-ठीक समझना है जो भारत में उस समय जन्म ले रहे थे। फिर १७६१ में एक बेमतलब पानीपत की तीसरी लड़ाई हुई जिसमे किसी चीज़ का निबटारा नहीं हुआ और १७५७ में बहुत मतलबों से भरी हुई प्लासी की लड़ाई हुई जिसने भविष्य के लिए सब कुछ का निबटारा कर दिया। फिर जिन समन्वयों के प्रयोग लोग लड़ते-भिड़ते जाने-अनजाने कर रहे थे उन सब पर मुर्दनी छाने लगी। इस पटाक्षेप के बावजूद ब्रजभाषा कवियो ने सबसे बड़ा कमाल यह किया कि जब एक ओर राजनीतिक एकता टुकड़े-टुकड़े हो रही थी उन्होने आज जो हिन्दी-भाषी क्षेत्र कहलाता है, इस पूरे खित्ते के लिए बड़े मनोयोग से एक सर्वमान्य भाषायी माध्यम निर्मित कर डाला। इतना ही नहीं उसे परवान भी चढ़ाया। पूरे क्षेत्र को एक समान रुचि और काव्यभंगिमा दी। और लोकभाषा में तराश और प्रगल्भता की यह खोज निकाली जो न सिर्फ़ सात समुन्दर पार उसी समय के अंग्रेज़ी 'मेटाफ़िज़कल' कवियों की बौद्धिकता की जैसी लगती है, बल्कि बात पैदा करने में उनसे आगे भी निकल जाती है। पंजाब से लेकर मिथिला तक और कश्मीर से सतारा तक का हृदय एक तरह धड़काना सिर्फ़ दरबारी विलासिता या विमूढ़ रुढ़िवादिता के बूते का काम नहीं है। कुछ और है जो बिहारी के दोहों को बाँकी मुस्तैदी और घनानन्द के स्वर को कसकता हुआ पकापन देता है। भाषा का स्तरीकरण और भी मार्के की बात लगती है जब हम पहले की ओर देखते हैं। माना कि भक्ति-काव्य ने ब्रजभाषा को फैलाया। लेकिन समूचा भक्ति-काव्य विशेषतः श्रेष्ठ काव्य फिर भी स्थानीय बोलियों में बँटा

दीखता है। मीरा राजस्थानी में लिखती है, विद्यापति मैथिल में, कबीरदास अनगढ़ खिचड़ी में, सूरदास ब्रज में, तुलसीदास अवधी में, यहाँ तक कि प्रतिभा के धनी ख़ानख़ाना भी कई आवाजों में बोलते हैं। इतना ही नहीं, सूरदास बहुत बड़े कवि है, रीति-कवियों से कहीं बड़े, लेकिन उनकी कविता में बराबर लगता है कि एक महान प्रतिभा अपने को ब्रजभाषा मे अभिव्यक्त कर रही है। जबकि रीति-काव्य में लगता है कि कवियों से अलग ब्रजभाषा की अपनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति हो रही है। 'भाषा की अपनी प्रतिभा' की अभिव्यक्ति ही वह सृजनात्मक स्तरीकरण है जो भाषा को सबकी सम्पत्ति बना देती है।

इसके अलावा हिन्दू-मुसलमान दोनों दरबारों में ब्रजभाषा कविता के एक ही मुहावरे का उदय एक ऐसा समन्वय है जो अकेले धार्मिक तत्त्ववाद के मान का नही है। इसके लिए इस 'बौद्धिक' शृंगार रस की जरूरत थी जिसने इस नये फैशन को चालू किया। मैं 'बौद्धिक' विशेषण जान-बूझकर इस्तेमाल कर रहा हूँ क्योंकि रीति काव्य की अन्तर्निहित बौद्धिकता को न समझ पाने के कारण ही लोगों ने विलासिता या अनैतिकता के बेमानी फ़तवे किये और रीतिकाल के श्रेष्ठ काव्य की प्रकृति को नहीं पकड़ सके।

इस सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि ब्रजभाषा बिहारीलाल और देव जैसे कवियों की नागरिक प्रगल्भता को विकसित करती है, उसका रिश्ता गाँवों से नहीं टूटता। विषय-वस्तु की दृष्टि से ही नहीं, और गहरे ब्रजभाषा के मिज़ाज की दृष्टि से। यह बोध बराबर होता रहता है कि यह नागरिकता नीचे से उठती हुई भाषा में से कल्ले फोड़ रही है। उधार ली हुई निजड़ी अन्तर्राष्ट्रीयता का नतीजा नहीं है। गाँव और शहर की पहली सन्धि रहीम की कविता में साफ़ दीखती है बाद में तराश और खराद बढ़ी। इस हिन्दी कविता के विपरीत उसी समय की हिन्दुस्तानियों द्वारा लिखी हुई ढेरों फारसी कविता है जिसकी शहरियत, फ़साहत, और बलाग़त बिल्कुल परदेसी नकल मालूम पड़ती है। अकबर के दरबार में ही यह दोमुहाँपन मौजूद है। यह नहीं भूलना चाहिए कि उस समय एक ही सामाजिक सन्दर्भ भी तीन न सही तो ढाई भाषाएँ रचनात्मक साँचे ढाल रही थी। एक फ़ारसी, एक ब्रज-भाषा, आधी संस्कृत। आधी इसलिए कि संस्कृत की गर्दन ब्रजभाषा काफ़ी मरोड़ चुकी थी। इन तीनों रचना संसारों को अगल-बगल रखने पर साफ़ दीखेगा कि ब्रजभाषा की जीवनीशक्ति कहाँ है और क्या कर रही है।

विस्तृत हिन्दू प्रजा पर जमे हुए इस्लामी राज ने कालान्तर में फिरदौसी-समन्वय को तो जन्म नहीं दिया लेकिन रीति काव्य के रूप में उसने एक-दूसरे तरह के समन्वय को आकार जरूर दिया : संस्कृत काव्य की निर्वैयक्तिक भावाभिव्यक्ति और फ़ारसी ग़ज़ल की शेरगोई के बीच। बेशक इस घोल मे देशी परम्परा की प्रधानता थी। लेकिन ब्रजभाषा के छन्द जिनसे भावों की लय अर्थात् कविता के प्राणतत्त्व का सृजन होता है बिलकुल ठेठ हैं। न वे संस्कृत के ऋणी हैं, न फ़ारसी के। सवैया घनाक्षरी, बरवै, दोहा ये सब नीचे लोक-लय से उठते हैं और ब्रजभाषा के माध्यम से क्लासिकी स्तर पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। सिद्धान्ततः प्रयोग का रास्ता बन्द नहीं है। साथ ही, इस समन्वय की कई मंजिलें हैं। घनानन्द तक आते-आते हिन्दी कविता फ़ारसी गजल के बहुत निकट आ जाती है। **घनानन्द** और उर्दू कवि **मीर** लगभग एक ही समय के हैं। दोनों में कितनी समानता है, और फिर भी दोनों की दुनियाएँ कितनी अलग हैं !

इस तरह भारत की लोकभाषा और लोकमानस मुस्लिम राज के लगभग सात सौ बरसों के दौरान दो लहरें नीचे से ऊपर की ओर फेंकता है। लगता है कि दो शक्तिशाली बवंडर धरती और आकाश को जोड़ने के लिए उठते हैं। एक उछाल भक्ति साहित्य के माध्यम से है जिसकी परिणति धार्मिक तत्त्ववाद में होती है। दूसरी उछाल निर्वैयक्तिक शृंगारिकता के माध्यम से है जिसकी परिणति एक तरह की सौंदर्यवादी धर्मनिरपेक्षता में होती है।

मगर आकाश का रास्ता इन बवंडरों के लिए बंद है। आधुनिकतावादियों ने मान रखा है कि मध्य युग में जीवन के हर पहलू को धर्म निगल जाता है। यह धारणा यूरोप के बिलकुल भिन्न एकधर्मी मध्ययुगीन समाजों के अनुभव पर आधारित है जिससे लोग भारत के सन्दर्भ में अक्सर आँख मूँद कर लागू कर देते हैं। इस व्यापक धारणा के बावजूद, धरती और आकाश के संगम के बीच भटकाव पैदा करनेवाली चीज भारत में न धर्म है, न इस्लाम, बल्कि एक तीसरा ही संयोग है जिसका कोई आंतरिक या वास्तविक संबंध इस्लाम से है ही नहीं। वह है फ़ारसी भाषा। अपने को ठेठ देशी बनाने की धुन में जिस अकबर ने दीने-इलाही तक का आविष्कार किया, उसी ने ऊपर से नीचे तक राजकाज में विदेशी भाषा फ़ारसी को थोप दिया। फ़ारसी थी तो पहले भी, लेकिन अकबर के समय से यह 'प्रगतिशील' दुचित्तापन व्यवस्था का अनिवार्य अंग बन गया। इसका परिणाम कुछ दाराशिकोह ने भुगता कुछ मुग़ल

साम्राज्य ने, कुछ भारत-पाकिस्तान आज भी भुगत रहा है। ब्रजभाषा के सामने यह फ़ारसी भाषा फ़िरदौसी की व्यापक कल्पनाशीलता के रूप में नहीं है, बल्कि अपने ठस भौतिक रूप में है : सत्ता, नौकरशाही, रुतबेबाजी और महत्त्वाकांक्षा की भाषा के रूप में। प्रेम और महत्त्वाकांक्षा, शायद ये दो ही शक्तियाँ हैं जो किसी साहित्य को लोहा मनवाने लायक धर्मनिरपेक्षता प्रदान करती है। फ़ारसी के चलते हिंदी भाषी क्षेत्र दुचित्ता हो गया। ब्रजभाषा प्रेम की भाषा हो गयी। फ़ारसी महत्त्वाकांक्षा की। परिणाम हुआ अधूरापन।

इसीलिए जो सौंदर्यात्मक अथवा शृंगारी धर्मनिरपेक्षता ब्रजभाषा ने सचित की वह बेसहारा और इतिहास विमुख है। इतिहास से टकराने का काम महत्त्वाकांक्षा का है। ब्रजभाषा कविता यूरोप की पैस्टोरल कविता की तरह अपना एक खास कविता-जगत बुन लेती है और ऐतिहासिक यथार्थ— देश काल में बँधे हुए यथार्थ—से भरसक बचती है। इसे हम बेहतर यों कह सकते हैं कि जिस क़दर यह कविता ऐतिहासिक यथार्थ के स्पर्श से अपना दामन बचाने में समर्थ होती है, उसी क़दर वह उस चारुता को ग्रहण कर पाती है जिसका उत्कर्ष उसकी अभिव्यंजना का लक्ष्य है। ऐतिहासिक यथार्थ का एक रूप राजनीति है। ब्रजभाषा की दुनिया ऐतिहासिक यथार्थ का सामना करने में कितनी अशक्त है इसका अच्छा दृष्टांत भूषण की कविता है। औरंगज़ेब शिवाजी संघर्ष में भूषण की प्रतिबद्धता मात्र राजस्तुति से कुछ ज्यादा है। लेकिन राजनीति से उलझने की इस अपवादस्वरूप कोशिश में कविता की चारुता नष्ट होने लगती है, भावों में लट्ठमारपन आने लगता है। इन सीमाओं के साथ रीतियुग की कविता धार्मिक अनुभूति के बाहर, या कम से कम उसके समानांतर सबके लिए उपलब्ध एक नया रचना संसार सँजोने की कोशिश करती है जिसके एक सिरे पर केशवदास और रहीम हैं, दूसरे सिरे पर घनानंद और गुलाम नबी रसलीन हैं।

फ़ारसी, अपनी अविनश्वर सत्ता के छलावे में डूबी हुई, और ब्रजभाषा इतिहास के व्याकुल करनेवाले संस्पर्श से दामन बचाती, संगीत की अमूर्त अवस्था में पहुँचने के लिए प्रयत्नशील—यही उस समय का साहित्यिक दृश्य है जब मुगल साम्राज्य बालू की दीवार की तरह गिरता है।

ब्रजभाषा का कलंक यह नहीं था कि वह दरबारी थी, बल्कि अधूरी दरबारी थी; यह नहीं कि उसे राजाओं का आश्रय मिला, बल्कि यह कि वह राज्य से एकाकार नहीं हो सकी। विदेशी फ़ारसी रास्ता रोके खड़ी रही।

शायद ही किन्हीं लोगों ने अपनी साम्राज्यशालिनी राजधानी के छीनने की गवाही इतनी संयत वेदना, इतनी नफ़ीस वज़ादारी, इतनी शालीन आत्म-लीनता के साथ दी हो जितनी दिल्ली के उन 'मुंतख़िबे रोज़गार' लोगो ने जिन्होंने मीर से लेकर ग़ालिब तक की दिल्ली कविता को जन्म दिया । न जाने पाटलिपुत्र और उज्जयिनी के लोगों ने अपने महानगरों की वीरानगी को किन आवाज़ों के साथ झेला । हम तक उनका कोई निशान बाकी नहीं है । रोम और एथेंस के लोग तो निश्चय ही बदहवास और चिटख़ते हुए दीखते है। लेकिन दिल्ली, और एक हद तक लखनऊ के भी लोग, सचमुच 'आलम मे इंतख़ाब' है । वे चिटख़ते नहीं, निहायत फ़सीह शायरी रचते है । मीर की डबडबाई हुई आत्मीयता से लेकर ग़ालिब की सितम ज़रीफ़ी तक वज़ादारी की एक रेखा है जो व्यक्त-अव्यक्त आदर्श की तरह दिलों को सालती रहती है

चली सिम्ते-ग़ैब से एक हवा
कि चमन सरूर का जल गया
मगर एक शाख़े-निहाले-ग़म
जिसे दिल कहें वो हरी रही ।

बेशक यह कसावदार शालीनता, ग़म और ज़ब्त की यह ख़ास घुलावट सब कवियों में नहीं है । कुछ टूट भी जाते हैं । कुछ सिर्फ़ छिछोरपन और चटख़ारे का रास्ता पकड़ते हैं । एक परिणति अमानत लखनवी की 'इंदर सभा' और दाग़ देहलवी की 'हमने उनके सामने पहले तो ख़ंजर रख दिया, फिर कलेजा रख दिया, दिल रख दिया, सर रख दिया' भी है । लेकिन इस सबके बावजूद एक ठहरी हुई कसक श्रेष्ठ उर्दू गजल के लिए प्रतिमान बनकर बराबर छायी रही :

याद थीं हम को भी रंगारंग बज्म-आराइयाँ
लेकिन अब नक्शो-निगारे-ताक़-निसियाँ हो गयीं।

'पूरब के साकिनों' से भिन्न ये 'रोज़गार के मुंतख़िब' लोग हैं । लेकिन जैसे-जैसे हम उस दिल्ली की कविता पढ़ते जाते हैं, हमारे ऊपर एक बंद दुनिया का वातावरण छाता जाता है । मैंने पहले संकेत किया है कि मीर सफ़दर घनानंद को पास-पास रख कर देखने पर दोनों में निकटता दिखती है । दोनों ही फ़ारसी गजल के पास खड़े हैं दोनों ही का सहज तरल पीड़ा को व्यक्त करता है लेकिन घनानंद पुरुष की ओर से विरह की ओर

'माशूक की बेवफ़ाई' जैसे गज़लनुमा काव्य संदर्भ के बावजूद, ब्रजभाषा कविता की ही परंपरा में हैं। इसके विपरीत मीर उस सारी परंपरा से कट कर अपने को एक नये दायरे में घेर रहे हैं। मीर की कविता में कसक के साथ एक घिरता हुआ अँधेरा है, जब कि घनानंद की कविता में खुलापन है।

यह भी एक नया समन्वय था, लेकिन बहुत दाम चुकाने के बाद। प्रो० एजाज़ हुसैन ने अपनी किताब 'मजहब और शायरी' में दिखाया है कि उर्दू कविता का जन्म और पालन-पोषण सौ फ़ीसदी धर्म अर्थात् इस्लाम का नतीजा है। लेकिन उन्होंने खुद उर्दू को फ़ारसी-परस्ती से जोड़ा है। फ़ारसी का इस्लाम से क्या संबंध है? मुगल साम्राज्यवाद का संबंध फ़ारसी से था। लेकिन मुग़ल साम्राज्यवाद और इस्लाम धर्म दो चीज़ें हैं। यह बात वैसे ही सच है जैसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद और ईसाई धर्म अलग-अलग चीज़ें हैं। अगर कोई ईसाइयों के लिए अंग्रेज़ी-परस्ती जरूरी समझे तो यह बुद्धि-विभ्रम ही कहा जायेगा। प्रो० एजाज़ हुसैन कुछ गहरे जाते तो शायद ठीक नतीजे निकालते और भविष्य के लिए कुछ रास्ता भी साफ़ करते।

बहरहाल जब तक दिल्ली में इतनी शक्ति आयी कि ऊपर से थोपे हुए फारसी के गुट्ठल और दमघोंटू ढक्कन को उतार फेंके तब तक अवसर बीत चुका था। 'बड़ी देर की मेहरबाँ आते-आते'। अगर खड़ी बोली ने फ़ारसी को अकबर के ज़माने में ही उतार फेंका होता तो प्रेम और महत्त्वाकांक्षा, फ़िर-दौसी और कालिदास के बीच आखिरी समन्वय करने का सेहरा दिल्ली की उर्दू के ही सर होता। जायसी ने जो काम शुरू किया था वह बड़े पैमाने पर आगे बढ़ता। शायद तब ब्रजभाषा और रीतिकाव्य की ज़रूरत भी न पड़ती। लेकिन उर्दू तब उठी जब दिल्ली गिर रही थी और पुरानी ऊर्जा चुक गयी थी। इसलिए जन्म के साथ उर्दू में अनुभूति की धरोहर सँजोने, घेरे को छोटा करने की अलगाववादी मुद्रा आयी। बेशक दिल्ली की उर्दू का मतलब था सात सौ बरसों की बंजर फ़ारसीगोई का बहिष्कार, लेकिन लगे हाथ सारे ब्रजभाषा साहित्य का बहिष्कार भी, जिससे उसका जन्म हुआ और जिसकी परंपरा को निभाने में उर्दू असमर्थ रही। मीर और ग़ालिब का मतलब सिर्फ़ देव और बिहारीलाल को ही भूलना नहीं हुआ बल्कि फ़ेहरिस्त से कबीरदास, जायसी, रहीम और उन तमाम लोगों का नाम ख़ारिज करने का हुआ जिन्होंने एक मिले-जुले देसी मिजाज को बनाने में पहल की थी। यहाँ तक कि पड़ोसी आगरे का नज़ीर भी इस दुनिया के लिए अजनबी रह गया। बदले में मिला क्या?

शेख़ अली हज़ीं का नकचढ़ापन। इस उठाव के पीछे सिर्फ़ ब्रजभाषा की जगह खड़ी बोली को स्थापित करने का ज़ोर नहीं था बल्कि खड़ी बोली पर ख़ुरासान की चाशनी लपेटने का अरमान भी था, जिसका कोई वास्तविक रिश्ता इस्लाम से नहीं था। दिल्ली की आख़िरी शमा से चाहे रहा हो। उर्दू ने लोक-जीवन से विकसित छंदों और लयों को छोड़ दिया, नीचे से उठती हुई किसी नयी लय के लिए नहीं बल्कि ईरान से मँगाये हुए फ़ारसी छंदों के पक्ष में जिनकी जकड़बंदी को अब जाकर उर्दू कविता में यहाँ-वहाँ चुनौती दी जा रही है। ऊपर नीचे, भीतर बाहर, सजधज सब में ईरानियत छा गयी। कितनी भिन्न थी ख़ानख़ाना की दिशा जिन्होंने ख़ुद फ़ारसी में हिंदी का बरवै छंद लिखा था।

मीगुज़रद ई दिलरा बे दिलदार यक यक साअत हमचू साल हज़ार।

(प्रिय के बिना मेरे हृदय के लिए एक-एक घड़ी हज़ार वर्षों की तरह बीत रही है।)

एक वक्त था जब हिंदी कविता ने फ़ारसी कविता को प्रभावित किया था और फ़ारसी में वह शैली निकली जिसे आज भी 'सुबके-हिंदी' कहा जाता है। लेकिन फ़ारसी इसे पचा कर समृद्ध हुई। अरसे बाद फ़ारसी ने इस तरह हिंदी को 'सुबके-उर्दू' दिया जो हिंदी के पचाव के बाहर था। साहित्यिक भाषा के दो टुकड़े हो गये।

एक ख़ास शहरियत का तेवर पाने के लिए दिल्ली की उर्दू ने गाँवों में फैले हुए हिंदुस्तान से अपना संबंध बिलकुल काट लिया। वस्तुतः ब्रजभाषा को उसके हिंदूपन के कारण नहीं छोड़ा गया। आख़िरकार उसी समय बिल-ग्राम के गुलाम नबी रसलीन अल्लाह, पैग़ंबर और अली की स्तुतियाँ ब्रजभाषा में लिख ही रहे थे। ब्रजभाषा मतरूक इसलिए हुई कि वह उस सिकुड़ती हुई महानागरीयता के लिए 'फ़सीह' नहीं लगती थी। दूसरे शब्दों में देहाती थी। इस तरह जहाँ महत्वाकांक्षा, कलेजे की चौड़ाई और भारत का प्रतिनिधित्व करनेवाली लहर होनी चाहिए थी, वहाँ 'घर-की-याद' में टीसता प्रवासी मन बैठ गया और सौदा को हिंद की ज़मीन नापाक लगने लगी। चारों ओर विरोधियों से घिर जाने की मनःस्थिति ने दिल्ली की उर्दू कविता को एक तरह की सर्जनात्मक कुलीनता की ठसक दे दी, जैसे मुहम्मदशाह की पगड़ी में छिपा हुआ न जाने किन यादगारों के साथ चमकता बेशक़ीमती कोहेनूर हो। गिरती हुई दिल्ली ने उर्दू ग़ज़ल के नये ब्राह्मणों को जन्म दिया

लागों को गुमाँ ये है कि वह अहले-ज़बाँ हैं।
दिल्ली नहीं देखी है ज़बाँदाँ वो कहाँ हैं।

इस मनःस्थिति की तुलना ब्रजभाषा के फैलाव से कीजिए :

"ब्रजभाषा हेतु ब्रजबास ही न अनुमानो
एते-एते कविन्ह की बानी हू ते जानिये।"

इस अलगाव में उर्दू ने जो सबसे बड़ा मोल चुकाया वह था ब्रजभाषा के प्रभुत्व संपन्न तेवर का—उस अनायास क्षमता का जिसके सहारे ब्रजभाषा फारसी और संस्कृत दोनों के ही शब्दों को अपने प्रवाह के कोड़े मार कर ठेठ रूप में बदल देती है, जिसके आगे कृष्ण कन्हैया हो जाते हैं और मुहम्मद मुहमद। संस्कृत शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने की ताक़त तो उर्दू के पास बच गयी लेकिन फ़ारसी के आगे उसे लक़वा मार गया। और इसके साथ ही, पहले की 'सुबके हिंदी' की तरह, फ़ारसी कविता को प्रभावित करने की शक्ति भी गयी। आगे का प्रभाव सिर्फ एकतरफ़ा—फ़ारसी से उर्दू की ओर।

दिल्ली-भाषा का यह नया फ़ैशन 'घर की याद' वाली कसक के लिए निहायत मौजूँ था और इसने धर्मनिरपेक्ष ईरानीनुमा ग़ज़लों में लुभावनी कविता को जन्म दिया। ग़ालिब तक ग़ज़ल में वास्तविक सर्जनात्मकता है। उसके बाद ग़ज़ल की अनुभूति प्रामाणिकता—उसका 'तग़ज़्ज़ुल'—ख़त्म हो जाता है और ग़ज़ल महज़ 'संस्कृति' रह जाती है। कहते हैं कि खजुराहो में एक गाइड ने किसी सैलानी को समझाते हुए कहा, "जी नहीं, यह मंदिर जहाँ अभी भी पूजा चलती है हिंदू धर्म है, वे मंदिर जहाँ कोई नहीं पूजता भारतीय-संस्कृति हैं।" संस्कृति उसी अर्थ में। इक़बाल से ले कर फ़िराक़ तक सब गजल के सैलानी हैं, साधक नहीं। उर्दू कविता धीरे-धीरे केंचुल बदल रही है, लेकिन बहुत धीरे-धीरे।

यह नया समन्वय भी रीतिकाव्य की तरह इतिहासनिरपेक्ष और धर्म-निरपेक्ष था। सिर्फ़ इसका फाटक ईरान की ओर खुला हुआ था। इसलिए आगे चल कर फ़िरंगी राज में जब नये भारत को स्वदेशी-विदेशी के उत्कट विवेक की ज़रूरत पड़ी तो तरह-तरह के पेचोख़म पैदा होने लगे। आख़िरकार सौदा हिंदी क्षेत्र के पहले कवि है जिन्होंने कम्पनी बहादुर के अंग्रेज़ अफ़सर की शान में कसीदा लिखा था। भारतेन्दु हरिश्चंद्र की मनःस्थिति का स्रोत इसी पेचोख़म में है जिसने हिंदी उर्दू की दुनियाओं को अलग किया। इससे हिंदी

उर्दू दोनों को नुक़सान पहुँचा। कुछ दिनों तक ब्रजभाषा और उर्दू दोनों ही इतिहास-विमुख निरपेक्षता की राह पर अलग-अलग चलीं। तब तक एक तरह का सहअस्तित्व बना रहा। लेकिन जैसे ही उन्नीसवीं सदी में नयी हवाएँ, नयी चुनौतियाँ आने लगीं सर्जनात्मक अनुभूति में इतिहास की चेतना व्याकुल होने लगी, हिंदी उर्दू दोनों के लिए धर्मांधता और धर्मनिरपेक्षता को ले कर असली और पेचीदा सवाल उठने लगे। तूफ़ान उठे और राजनीतिक तनाव सतह पर आ गये। जो भारत की अन्य भाषाओं में नहीं हुआ था, वह हिंदी भाषी उत्तर में पहले ही हो चुका था। मनोभूमि दो टुकड़े हो चुकी थी, यद्यपि हिंदी-उर्दू भाषा की नींव एक ही थी। दूसरी भाषाओं और भारतीय संगीत के लगभग समूचे समन्वय के प्रतिकूल, हिंदी उर्दू की भाषायी समानता नये तनावों का मुक़ाबला करने की जगह इन आँधियों का खिलौना बन गयी। धर्म की जो धार्मिक अनुभूति है उसे तो हिंदी उर्दू दोनों ने छोड़ दिया। उसकी जगह 'संस्कृति' नाम की धर्मनिरपेक्ष-सी लगने वाली एक नयी चीज़ केन्द्र में आ गयी जिसने भारी झगड़े उठाये। उन्नीसवीं शताब्दी और उसके बाद के धर्मांध विवादों में धर्म का वह निजी रूप नहीं है जिसे मध्ययुग के साहित्य ने केन्द्र मे डाला था। उस निजीपन की जगह इतिहास ने ले ली। इतिहास के साथ उत्थान-पतन, सत्ता-विद्रोह, गौरव-अपमान, अपनापन-परायापन यह सब समाने आ गया। धर्मांधता जितनी बढ़ती है धार्मिक अनुभूति उतनी ही गौण होती जाती है। साहित्य में आधुनिकता का पहला दौर इस तरह शुरू होता है। यही इस परिवर्तन का अंतर्विरोध है जिससे एक तरफ़ नयी हिंदू धर्मनिरपेक्षता और नयी मुस्लिम धर्मनिरपेक्षता की विचित्र टक्कर दिखती है दूसरी तरफ समाज दूरीवादी पुरानी धर्मनिरपेक्षता अर्थात् धार्मिक तत्त्ववाद के बचे हुए लोग बड़ी चिंता और लगन के साथ मिलाप की सतह खोजने में तल्लीन दिखते हैं।

जो लोग यूरोप के ही तजुर्बों से अपनी सारी धारणाएँ बनाते है और उन्हें भारत में कसौटी की तरह इस्तेमाल करके फ़ैसला करते हैं, उन्हें इस पेचीदगी से सबक़ लेना चाहिए। यूरोप में नवजागरण का काम था मध्ययुग के यूरोपव्यापी ईसाई महामंडल के टुकड़े-टुकड़े करके नये राष्ट्रों को जन्म देना। हिन्दुस्तान में नवजागरण के सामने समस्या थी समाज को टूटने के ख़तरे से बचाकर एका पैदा करना। नवजागरण और आधुनिकता की हवा तनाव को और तीखा कर देती है। 'धार्मिक' अनुभूति सबको मिलाने की कोशिश

करती है। यह विचित्रता क्यों है ? यूरोप का नवजागरण पूरे समाज में सिर्फ एक धर्म का मुक़ाबला करता है। हिन्दुस्तान के नवजागरण के सामने मुक़ाबले के लिए कम-से-कम दो बड़े धर्म हैं। अतः नयी दुनिया की रोशनी और राष्ट्रीय एकता की ज़रूरत एक ही दिशा में काम नहीं करती।

लगता है कि मैं सुझा रहा हूँ कि मध्ययुग के धार्मिक तत्त्ववाद ने टकराव और मिलाप के मामले में आधुनिक युग के धार्मिक निरर्थकतावाद के मुक़ाबले कुछ ज्यादा समझदारी का समाधान पेश किया। बिल्कुल इसी तरह तो नहीं, लेकिन इतना जरूर कहना चाहूँगा कि आज धर्मांधता और धर्मनिरपेक्षता की जाँच-पड़ताल में मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में दिखती हुई मिलाप-तनाव, आकर्षण-विकर्षण की प्रक्रिया को आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता। आज की धर्मनिरपेक्षता को मध्ययुग का सामना बेलौसपन के साथ और बिना कतराये करना होगा। आज धर्मनिरपेक्षता के हिमायतियों में जो दोमुँहापन है, उसके हल के संकेत और उस समस्या की जड़ भी वहीं हैं। कम-से-कम साहित्य का अध्ययन तो यही बताता है। मैं यह भी कहना चाहूँगा कि मैदानों में फैली ब्रजभाषा मिलाप की भट्टी में पकती है और सिकुड़ती राजधानी की उर्दू अलगाववादी नये ब्राह्मणतंत्र की अभिलाषा में परवान चढ़ती है। साहित्यिक आलोचना की शब्दावली में कहें तो फ़र्क सिर्फ़ भाषा शब्दभंडार का नहीं था, गहरे जाकर संवेदना और काव्यानुभूति की बनावट का था।

तब से अब तक उर्दू-हिन्दी दोनों ने बड़ी मंज़िलें तय की हैं। हिन्दी ने केंचुल कुछ ज्यादा बदला, उर्दू ने कुछ कम। धर्मांधता और धर्मनिरपेक्षता को लेकर मिज़ाजों में बदलाव आया है। मगर उर्दू और उसके रिश्तों की व्याख्या को हम फ़िलहाल छोड़कर हिन्दी को ही देखें जो इस लेख का मुख्य विषय है।

उर्दू की एकतरफ़ा किनाराकशी के बाद, अधूरी ब्रजभाषा अपने अस्तित्व की शर्तें पूरी करने में असमर्थ रह गयी। नयी हवा ने उसे विकसित करने के बजाय किनारे लगा दिया। भारतेन्दु की नयी हिन्दी में जो झंकारें उठीं, उसकी एक अतिवादी ठनक हम इस लेख के आरम्भ में देख चुके हैं। खड़ी बोली हिन्दी के सिर पर तीन दायित्व थे। एक, नये सिरे से ब्रजभाषा की मिलाप वाली परम्परा को चलाना। दो, किसान समाज को, जिसे दिल्ली लखनऊ ने त्याग दिया था, अभिव्यक्ति देना। तीन, भारत के समूचे इतिहास को आत्मसात करके एक नया भारत-बिम्ब प्रस्तुत करना। भारतीय फ़िरदौसी के अभाव

में इन तीनों दायित्वों को एक साथ निभाने के लिए कोई प्रतिनिधि विरासत नहीं थी। पहली हवा यही चली कि उर्दू मुसलमानों की ओर से बोलेगी, हिन्दी हिन्दुओं की ओर से। इस बँटवारे को मान लेने के बाद हिन्दी चाहे जितनी आधुनिक होती जाती शंका बनी ही रहती। लेकिन हिन्दी के ये तीनों दायित्व उसके साहित्य को स्थिर नहीं रहने देते क्योंकि ये तीनों उसे एक दिशा में बेधड़क नहीं बढ़ने देते। उनमें आपस में खींचातानी होती है। गुत्थियाँ उपजती हैं। बीसवीं शताब्दी की इन गुत्थियों से हम परिचित हैं। आजादी की लड़ाई के दौरान, और आज़ादी तथा बँटवारे के बाद से इन गुत्थियों के जो राजनीतिक भँवर रहे हैं, उनके विस्तार में मैं नहीं जाऊँगा। लेकिन हम कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य में पहले दो दायित्वों अर्थात् ब्रज-भाषा की मिलापवाली परम्परा और गाँव से सम्बन्ध, इन दोनों का असर कुल मिलाकर धर्मनिरपेक्षता के पक्ष में पड़ा है। लेकिन तीसरा दायित्व, अर्थात् भारत-बिम्ब का निर्माण, जो बीसवीं शताब्दी की संवेदना का सबसे बोलता हुआ रंग है, बड़े-बड़े उलझाव और घनचक्कर पैदा करता है। कौन-सा मुहा-वरा फ़िरदौसी की तरह 'तीस बरस तक बड़े कष्ट' उठायेगा, और अपनी भाषा में भारत को 'जीवित' कर देगा ?

इस लेख में पहले जहाँ मैंने भारतेन्दु का उद्धरण दिया है वहाँ यह कहा है कि इतिहास की पहली आँच लगते ही सृजनात्मक चेतना में 'हम-वे' इन दो ध्रुवों का निर्माण होता है। इस आँच को लपट देती है फिरंगी राज की उप-स्थिति और अपने सामाजिक निजत्व को पहचानने की तड़प। भारतेन्दु से लेकर मैथिलीशरण गुप्त तक यह इतिहासजनित 'हम' एक सीमित 'हम' है। भारत-भारती में 'हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी' में हम का घेरा कितना बड़ा है ? इसके विपरीत 'वे' की धारणा लचीली है। जब आँख अंग्रेज़ों पर टिकती है तब इस 'हम-वे' से हिन्दुस्तानी धर्मनिरपेक्षता की आवाज निकलती है, जब मुग़ल राज्य की याद आती है तब हिन्दू धर्मनिरपेक्षता जैसी चीज सामने आती है।

इस लचीली और चंचल मनोदशा के बहुत से दृष्टान्त इस दौर से दिये जा सकते हैं। एक दिलचस्प उदाहरण मैं बालमुकुन्द से दे सकता हूँ जो कुछ ज्यादा सटीक ढंग से उलझाव को प्रकट करता है। बालमुकुन्द गुप्त के लेखन के बारे में चूँकि लोग ज़्यादा परिचित नहीं हैं इसलिए उद्धरण देने की कुछ ज्यादा छूट चाहूँगा।

लगता है कि बंगाल के छोटे लाट फ़ुलर साहब ने १६०५ में कहीं यह धमकी दी कि हिन्दुओं के लिए बंगाल में शाइस्ताखाँ की हुकूमत फिर लायी जायेगी। इशारा इस ओर था कि शाइस्तखाँ ने बंगाल में हिन्दुओं पर जज़िया लगाया था और औरंगजेबी दमन की नीति चलायी थी। जमाना बंग-भंग का था, जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। बात फ़ुलर साहब ने भड़कानेवाली कही थी। इस पर बालमुकुन्द गुप्त ने 'जन्नत' से शाइस्ता खाँ के दो ख़त 'भाई फ़ुलरजंग साहब' के नाम अपनी लाजवाब व्यंग्य शैली में लिखे। इन ख़तों में शाइस्ता खाँ समूचे हिन्दुस्तान की तरफ़ से अंग्रेज़ लाट को फटकारता है :

"तो भी मैं तुम्हारे जानने को कहता हूँ कि हम मुसलमानों ने बहुत दफे हिन्दुओं के साथ इन्सानियत का बर्ताव भी किया है। बहुत-सी बदनामियों के साथ मेरी हुकूमत के वक़्त की एक नेकनामी बंगाल की तवारीख़ में ऐसी मौजूद है, जिसकी नज़ीर तुम्हारी तवारीख़ में कहीं भी न मिलेगी। मैंने बंगाले के दारुस्सल्तनत ढाके में एक रुपये के ८ मन चावल बिकवाये थे। क्या तुममें वह ज़माना फिर ला देने की ताक़त है?…जहाँ तुम्हारी हुकूमत जाती है, वहाँ खाने-पीने की चीज़ों को एकदम आग लग जाती है…अपने बादशाह के हुक्म से मैंने बंगाल के हिन्दुओं पर जज़िया लगाया था…इसी के लिए मैं शर्मिन्दा हूँ और इसका बदला भी हाथों-हाथ पाया और इसी का खौफ़ तुम अपने इलाक़े के हिन्दुओं को दिलाते हो। वरना यह हिम्मत तो तुममें कहाँ कि मेरे ज़माने की तरह हिन्दुओं को हरबा-हथियार बाँधने दो और आठ मन का गल्ला दो… तुमने बिगड़कर कहा है कि तुम बंगालियों को पाँच सौ साल पीछे फेंक दोगे। अगर ऐसा हो तो भी बंगाली बुरे नहीं रहेंगे। उस वक़्त बंगाल में एक राजा का राज था जिसने हिन्दुओं के लिए मन्दिर और मुसलमानों के लिए मस्जिदें बनवायी थीं और उस राजा के मर जाने पर हिन्दू उसकी लाश को जलाना और मुसलमान गाड़ना चाहते थे। वह ज़माना तुम्हारे जैसा हाक़िम क्यों आने देगा?"

यह एक तस्वीर है, 'वे' का संधान अंग्रेज़ की ओर है। 'हम' का दायरा बढ़ रहा है। एक और तस्वीर बालमुकुन्द गुप्त के 'अश्रुमती नाटक' पर लिखे गये लेख में है। लगता है कि बंगाल के प्रसिद्ध ठाकुर घराने में किसी ने एक 'अश्रुमती नाटक' लिखा था। उस घराने में यह नाटक अक्सर खेला जाता था। हिन्दी में उसका अनुवाद हुआ जिसे बालमुकुन्द गुप्त ने पढ़ा। फिर वही

तिलमिलाहट, आक्रोश और मन में सदा घुमड़ती हुई पीड़ा उभरी। उन्हीं के शब्दों में :

"हमने नाटक पढ़ा। पढ़कर हमारे शरीर के रोंगटे खड़े हो गये। हृदय कांप उठा। हमने उसकी आलोचना 'हिन्दी बंगवासी' में की और मुंशी उदित-नारायण लाल को बताया कि यदि कोई बंगाली हिन्दूपति महाराणाप्रताप सिंह के चरित्र को न समझकर उन पर झूठा कलंक लगावे, तो लगा सकता है। पर आप हिन्दू हैं, हिन्दुस्तानी हैं राजपूतों और महाराणाप्रताप सिंह के चरित्र को अच्छी तरह समझते हैं, फिर न जाने क्यों आपने ऐसी कलंकमयी पोथी का अनुवाद किया यह पोथी हिन्दू जाति की, क्षत्रियवंश की बेइज्जती करती है और उन पर घोर कलंक लगाती है। इसका अनुवाद करने से आप पाप के भागी हुए हैं। इससे इस कलंकमयी पुस्तक के अनुवाद की जितनी पोथियाँ छपी हैं, वह सब गंगा जी में डुबो दीजिए और फिर गंगा स्नान करके पवित्र हूजिये।"

इस नाटक का कथासार यह था कि इतिहास प्रसिद्ध राणाप्रताप की एक लड़की अश्रुमती नाम की है। जब राणाप्रताप पराजित होकर जंगलों में भटक रहे थे तब मान सिंह के इशारे पर अकबर की सेना का एक मुसलमान सिपाही अश्रुमती को चुरा ले जाता है। अकबर के बेटे शाहजादा सलीम ने अश्रुमती की रक्षा की। अश्रुमती शाहज़ादा सलीम के प्रेम में पागल हो जाती है। बाद में राणाप्रताप की मृत्युशय्या के सम्मुख भी वह सलीम के ही गुण गाती है। प्रताप को इसके सुनने से मानों मरने से पहले ही मर जाना पड़ा। प्रताप ने उसे भैरवी बनाने का हुक्म दिया। अन्त में भैरवी अवस्था में सलीम उससे फिर मिलता है और वह उसके साथ गायब हो जाती है।

"इस पुस्तक के पढ़ने से आपकी गर्दन नीची होती है या ऊँची? बंग साहित्य के मुंह पर इससे स्याही फिरती है या नहीं? आपके बंग साहित्य में यदि ऐसी पुस्तकें बढ़ें तो उस साहित्य का मुंह काला होगा या नहीं?…किन्तु साहित्य जहन्नुम में जाये, हमको साहित्य से मतलब नहीं है। हमको जो कुछ मतलब है इस पुस्तक से है, वह हिन्दू धर्म लेकर, राजपूतों का गौरव लेकर और हिन्दूपति महाराणाप्रताप सिंह की उज्ज्वल कीर्ति लेकर है…कैसे दुःख की बात है कि जिस महाराणा ने दूसरे राजपूतों को मुसलमानों को कन्या देने से रोका—एक बंगाली ग्रन्थकार उसी पर कलंक लगाता है और उसकी एक कल्पित लड़की को एक मुसलमान के साथ भगाता है। अब विचारिये कि जिस

ग्रन्थकार ने यह पुस्तक लिखी है उसने कैसा भारी अनर्थ किया है, और कहाँ तक हिन्दुओं के मन को कष्ट नहीं दिया···"

'वे' का सन्धान यहाँ दूसरी तरफ़ है और 'हम' का घेरा सिकुड़ता है। केन्द्र में मध्ययुग की परिचित धार्मिक अनुभूति नहीं है बल्कि 'हिन्दू धर्म, राजपूतों का गौरव और राणाप्रताप की उज्जवल कीर्ति' यहाँ समानार्थी हो गये हैं, बालमुकुन्द गुप्त के मन में जो घाव कर करता है, उसकी नाज़ुक विषय-वस्तु अश्रुमती नाटक में भी है, भारतेन्दु के नीलदेवी नाटक में भी है, और जायसी के पद्मावत में भी है। लेकिन अनुभूति के रेशे अलग हैं। धर्मनिरपेक्ष भारत की मूर्ति किस शिल्प से गढ़ी जाएगी? आधुनिक युग का यह पहला अन्तर्विरोध है।

इतिहास की पहली झलक से उत्पन्न इस हिन्दू-मुसलमान फाँक को भरने की कोशिश सत्याग्रह युग में गांधी जी के व्यापक प्रभाव के अन्तर्गत हुई। भारत-बिम्ब को गढ़ने के लिए अतीत से दूसरे रंग उठाये गये। घटनाओं के परे भारतीय आत्मा की तलाश की गयी। भारत बिम्ब को भौतिकवादी पश्चिम के मुक़ाबले में आध्यात्मिक करके उभारा गया। इस नये अध्यात्म-वाद में पुराना धार्मिक तत्त्ववाद भी घुल-मिल गया। विवेकानन्द और राम-कृष्ण जैसे लोगों ने यह आत्मदर्शी दार्शनिकता पहले ही सुलभ कर दी थी। रवि ठाकुर ने इसकी साहित्यिक उर्वरता का वैभव दिखला दिया था। इस सबको लेकर छायावाद ने आवाज़ बदली। यह भारतेन्दु-मैथिलीशरण गुप्त के समय के सीमित 'हम' को फुलाकर बड़ा करने की कोशिश है। व्यापक राष्ट्रीय मान्यता के अनुकूल ही, छायावादी कवि भौतिकता का अतिक्रमण करने का प्रयत्न करता है। लेकिन यह आत्मान्वेषी यात्रा सिर्फ़ उसकी निजी गवाही नहीं है। इसमें राष्ट्रीय व्यक्तित्व की खोज और देशभक्ति में कवि के व्यक्तित्व की घुलावट भी शामिल है। निजी और सार्वजनिक, 'मैं' और 'हम सब'—इन दोनों को जोड़ना इतना आसान खेल नहीं है जितना कहने भर से लगता है। इसमें बड़ा उतार-चढ़ाव, बड़ी पीड़ा और बड़ा उल्लास दोनों हैं सन्तुलन बनता है, बिगड़ता है, ठहरता है, बिखरता है। इस प्रक्रिया का सबसे ठस उदाहरण सुमित्रानन्दन पन्त की कविता है, जिन्हें इस हलचल की भनक जरूर कहीं से मिली है लेकिन इसमें जो धुआँधार बेकरारी है उससे वह सरासर अछूते रह जाते हैं। दो सौ बरस पहले घनानन्द और मीर की दुनियाओं के अलगाव का एक नतीज़ा शायद सुमित्रानन्दन पन्त का ठसपन भी है। इस प्रक्रिया के सबसे

चमकते और वेगवान उदाहरण प्रसाद और निराला हैं जो इसके रंगारंग पहलुओं को जीते हैं और सबसे तन्मय उदाहरण महादेवी हैं जिन्हें अतिक्रमण की एक अनुभूति के बाद और किसी चीज की आवश्यकता नहीं रह गयी है।

क्या छायावादी को हम यूरोप की रोमांटिक धर्मनिरपेक्षता के तुल्य ठहरा सकते हैं ? अक्सर आलोचक ऐसा करते हैं, चाहे प्रशंसा में चाहे निन्दा में। लेकिन रोमांटिक कवि और छायावादी कवि में जड़ में ही अन्तर है छायावादी कवि जिस समाज का अंग है उसके पीछे वह लाठी लेकर नहीं पड़ा है। समाज से उसका गहरे स्तर पर सामंजस्य है। वह दु:खी होता है, उमड़ता है, पसीजता है, छटपटाता है, चिन्तामग्न हो जाता है, उड़ चलता है। शक्ति और ऐश्वर्य के सपने देखता है। लेकिन आखिरकार यह सारा मायालोक उसी आध्यात्मिक-नैतिक जगत में समाहित हो जाता है जिसका दूसरा नाम इन दिनों भारतवर्ष है। निराधार कल्पना छलावे दिखाती है। लेकिन सार्वजनिक आस्था के सहारे छायावादी कवि बायरन और शेली जैसी उद्दामता और कुण्ठा की पेंगों से बच जाता है।

फिर हम एक दूसरे रास्ते से एक नये क़िस्म के धार्मिक तत्त्ववाद तक जा पहुँचते हैं, जहाँ मध्ययुग और उसके पहले की भी छायाएँ पड़ती दीखती हैं। यह मनोभूमि कहाँ तक और किस अर्थ में धर्मनिरपेक्ष है ? रॉबर्ट फ़्रॉस्ट ने कभी कहा था कि जितना ही मैं टैगोर को पढ़ता हूँ मेरी आस्था ईश्वर में दृढ़ होती जाती है। इस नयी आध्यात्मिकता का बादल पकड़ में चाहे न आये, बालमुकुन्द गुप्त के 'हम' से ज्यादा कुछ लपेट सकता है, इतना तो साफ़ है। ऐसे ही बादल की तलाश में उर्दू कवि इक़बाल भी 'खुदी' को तान रहे थे। वहाँ बिल्कुल छायावाद तो नहीं है लेकिन भौतिकवाद से परे आध्यात्मिकता की प्रस्तावना जरूर है। सवाल यही था कि क्या ये दोनों बादल मिलेंगे या पावन-अपावन, पाक-नापाक के समानान्तर कटघरे बनाकर अलग-अलग दिशाओं में उड़ जायेंगे ? संक्षेप में, संकुचित 'हम' को फैलाकर कुछ धर्मनिरपेक्ष बनाने की कोशिश में छायावाद धर्म के मर्म की ओर मुड़ता है। आधुनिक युग का यह दूसरा अंतर्विरोध है।

तब किया क्या जाये ? क्या हम अतीत से बिलकुल मुँह मोड़ लें और नितान्त समसामयिक धर्मनिरपेक्षता का ढाँचा खड़ा करें ? ऐसी ही समसामयिक धर्मनिरपेक्षता की खोज में, जिसमें न सिर्फ़ धर्म और ईश्वर बल्कि वह भी जिसे 'संस्कृति' कहा जाता है कोने में डाल दी जाये। क्रमशः

ने एक बार अपने नगरवासी जयशंकर प्रसाद और उनके स्वर्ण-युगवादी नाटकों पर टिप्पणी जड़ते हुए कहा था : "आख़िर इन गड़े मुर्दों को उखाड़ने से क्या लाभ ?" प्रेमचन्द उर्दू से हिन्दी में आये, गाँव और किसान की तलाश में और उन्होंने अपने प्रसिद्ध एकरंगी उपन्यास लिखे। उन्होंने यथार्थ तक पहुँचने के लिए सबसे छोटी राह पकड़ी—प्रत्यक्ष की राह। लेकिन गड़े मुर्दों को उखाडने की जरूरत नहीं पड़ती। वे खुद-ब-खुद बगैर न्यौते ही कब्र से निकल आते है और जब तक उनका डटकर सामना न किया जाये प्रेत लीला करते रहते हैं। अतीत के मुर्दों से एक बार प्रेमचन्द की बड़ी विचित्र भेंट हुई थी। अपने अजीब उपन्यास 'कायाकल्प' में, जहाँ आज का यथार्थ भी है, किसान जमींदार भी हैं, बाणभट्ट की कादम्बरी जैसा पुनर्जन्म भी है, हिमालय की रहस्यमयी गुफाएँ भी हैं और मंत्र बल से उड़नेवाले साधू महात्मा भी है या फिर 'महात्मा ईसा' और 'कर्बला' जैसे निर्जीव नाटकों में। उन्होंने पाया कि पुराण और देवमालाएँ रचनेवाली 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' उनके किसी ख़ास मसरफ़ की नहीं है। सिर्फ़ अनमिल बेजोड़ ही पैदा करती है। उन्होने प्रेतबाधित स्तरों को छोड़ दिया और प्रत्यक्षदर्शी उपन्यास लिखे। धीरे-धीरे यह सारी प्रत्यक्ष-सीमित, मिथकहीन धर्मनिरपेक्षता उथली होती गयी। जो भी हो, उन्होंने प्रत्यक्ष के स्तर पर पावनता और इहलौकिकता की भेंट 'कायाकल्प' की शैली में फिर नही दुहरायी। जाहिर है कि यह ढंग न सिर्फ पश्चिम के वैज्ञानिक यथार्थवाद की रोशनी में, बल्कि उस समय के भारतीय तात्त्विक अध्यात्मवाद के आगे भी घोंघावसन्ती लगने लगा था।

लेकिन प्रेमचंद का प्रत्यक्षवाद उनके अंतिम उपन्यास गोदान में कायाकल्प के मिथकीय प्रेतों की ओर फिर लौटता है। इस बार बिल्कुल नयी पकड के साथ उनके पहले उपन्यासों और कहानियों का किसान मुख्यतः आर्थिक चक्की में पिसता हुआ दरिद्र और शोषित किसान था। गोदान का होरी अभी भी कुल मिलाकर प्रेमचंदीय किसान, यानी प्रधानतः आर्थिक आदमी ही है। पर अब उसके मन में एक पौराणिक आस्था घुमड़ती रहती है—गोदान की। उसके संघर्ष का मैदान जरूर आर्थिक ही दीखता है लेकिन गोदान की व्यथित अभिलाषा और उससे भी बढ़ कर होरी की अनिवार्य धर्मभीरु नैतिकता उसके हर उद्वेलन को एक विनीत पावनता से दीप्त करती रहती है। कर्मभूमि या रंगभूमि के प्रेमचंद इस पौराणिक या मिथकीय उद्वेलन को टाल जाते या नापसंद करते। लेकिन धर्मनिरपेक्षता और धर्म-

धीरता यहाँ जानबूझ कर मिलायी हुई दीखती है। गोदान क्या सिर्फ होरी नाम के एक किसान की कहानी है या होरी नाम के एक आदमी की कहानी है ? वह कौन सी पातालगंगा है जो बहुत गहरे 'एक किसान को एक आदमी, बनाती है ? ये सवाल प्रेमचन्द के अंतिम सर्जनात्मक प्रयास में उलझे हुए हैं। धर्म और धर्मेतर की सीमा-रेखाएँ गड्ड-मड्ड हो जाती हैं। यह आधुनिक युग का तीसरा अंतर्विरोध है।

इस तरह हमारे सामने हिन्दी साहित्य के माध्यम से आधुनिक धर्मनिर-पेक्षता की समस्याओं का स्वरूप बनता है। अध्यात्मवादी तेवर जिस समन्वय का प्रयास करता है उसमें एक हद के बाद असफल रहता है। इसके विपरीत आर्थिक धर्मनिरपेक्षता के सामने सतहीपन का खतरा खड़ा हो जाता है। लगभग ऐसा ही खतरा रीतियुग ने उठाया था जिसने तनावों और उलझनों से बचने के लिए जिन्दगी की सतह पर ही बाँकपन दिखाने की कोशिश की। धर्मनिरपेक्षता आदमी की तलाश में कितने गहरे गोता लगाये—और वह भी किसके सहारे ?

हल क्या है ? मैं इस सवाल को यहाँ अनुत्तरित ही छोड़ देता हूँ क्योंकि अब हमारे विश्लेषण की सीमाएँ बिल्कुल पड़ोस में, आजकल के सृजनात्मक ऊभचूभ के पास जा पहुँची हैं। आशा करता हूँ कि अब तक इतना अवश्य स्पष्ट हो गया होगा कि धर्मनिरपेक्षता एक गतिशील प्रक्रिया है। कोई बनी-बनायी या बाहर से उधार ली हुई अवधारणा नहीं है जिसको हम आँख मूँद कर हर जगह लागू कर दें। यह प्रक्रिया अभी भी उन्हीं दो ध्रुवों के बीच चक्कर काटती है। धार्मिक तत्त्ववाद के सहारे समन्वय नहीं हो पाता और प्रत्यक्षवाद सतह पर तैरता है। हम फिर उन्हीं आरम्भिक प्रश्नों को पूछ कर बात को फिलहाल खत्म करें क्या सारे धर्म समानरूप से सार्थक हैं ? क्या सारे धर्म समान रूप से निरर्थक हैं ?

भारतीयता क्या है ?

विद्वानों ने परिभाषायें बहुत दी हैं—अंग्रेजों के विरुद्ध स्वाधीनता-संग्राम के दौरान तो ख़ासकर। परिभाषाओं के इस जंगल में मैं आपको नहीं उलझाना चाहता सिर्फ़ आपके सोचने के लिए कुछ पहलू उजागर करना चाहता हूँ। सबसे पहले तो यह सवाल कि औसत आदमी के लिए भारतीयता क्या है ? इस पर सोचने को अवसर ही कहाँ आता है। शायद आपने अपनी भारतीयता के बारे में कभी सचेत होकर न सोचा हो। लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि भारतीयता का गहरा सम्बन्ध आपके जीवन से है नहीं। उदाहरण के लिए आपके चारों ओर हवा का फैलाव है जिसमें आप साँस लेते हैं। इसके बारे में सचेत होकर आप शायद ही कभी सोचते हों लेकिन उस वायुमंडल का सम्बन्ध आपकी निजी जिन्दगी से गहरा है।

भारतीयता बहुत कुछ आपके चारों ओर लिपटे उस वायुमंडल की तरह है। फ़र्क इतना है कि यह वायुमंडल निर्मल होगा कि दूषित होगा इससे औसत आदमी की तरह आपके आचारों-विचारों, व्यवहारों का भी बहुत बड़ा योग-दान है। औसत आदमी को ही ध्यान में रखकर हम एक काम चलाऊ परि-भाषा दें। जो लोकाचार हमारे परदादा ने निभाया उसे निभाते चलना ही भारतीयता है। लोकाचार में हमारा खान-पान, रहन-सहन, शादी-ब्याह, परि-वार, संस्कार, पूजा-पाठ, अपने-पराये की भावनाएँ इन सबको शामिल कीजिये और परदादा को हमारे पूर्वजों के सगुण रूप में समझिये। इसको हम थोड़ा अधिक निर्गुण शब्दावली में कहें तो कहेंगे कि परम्परा का निर्वाह ही भार-तीयता है।

हो सकता है आप सोचते हों कि जैसे आपके बाबा ने जिन्दगी निभायी वैसे ही आपके बाप ने और शायद वैसे ही आप भी निभा रहे हैं। खाने-पहनने का वही ढंग, वही पूजा पाठ, वही अपने देवी-देवता, वही नाते-रिश्ते, वही आचार-विचार, वही अपने-पराये, वही उमंगें और मन में घुमड़ती हुई वही पीड़ायें। बेशक औसत आदमी एक ढर्रे या परम्परा में बँधी जिन्दगी बिताता है। कम-से-कम सोचता वह यही है लगता है कि लोक अटूट है। लेकिन जिन्दगी बहुत आसान होती अगर पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक ही ढर्रे पर चलती

जाती। क्या सचमुच ऐसा है ? एक दिन आप देखते हैं कि आपका लड़का वैसे ही पगड़ी बाँधने को तैयार नहीं है जैसी आपके दादा ने या बाप ने या आपने बाँधी। या पड़ोसी का लड़का एक नयी कट की कमीज़ पहनने लगा है या नये तरह की बुलबुली काढ़ने लगा है। कोई और है जिसने बाप के रहते मूँछें मुड़-वाना शुरू कर दिया, किसी और ने जनेऊ पहनना छोड़ दिया और तो और गाँव या कस्बे में एक नये किस्म का फ़िल्मी गाना बजता है और कुँआरी लड़कियाँ एक नये तर्ज़ से गुनगुनाना शुरू कर देती है जिस तरह कभी न दादी ने गाया, न अम्मा ने, न चाची ने। यह सारा बदलाव हमारे चाहे अनचाहे होता रहता है।

कभी-कभी तो यह बदलाव बड़े गम्भीर हो जाते हैं। यह बदलाव कहाँ से आते हैं क्यों होते हैं इस खोज में न जाकर मैं इस तरह के बदलावों के लिए एक नाम दूँगा—काल के प्रवाह के साथ संकल्पहीन बदलाव। संकल्पहीन इसलिए कि ऐसे बहुत से बदलावों के पीछे कोई विवेकपूर्ण संकल्प नहीं होता। यह बदलाव होते चलते हैं। काल का प्रवाह पीढ़ी-दर-पीढ़ी दबाव डालता है और जिन्दगी लीक से इधर-उधर हट जाती है कभी ज्यादा कभी कम। इस तरह भारतीयता की समस्या सिर्फ़ परम्परा के निर्वाह की समस्या नहीं है बल्कि परम्परा और बदलाव के आपसी टकराहट की समस्या बन जाती है। इसलिए सिर्फ़ परिभाषा लिख देने से काम नहीं चलता। काल-प्रवाह और बदलाव के सामने औसत आदमी के रूप में हम किस तरह खड़े होते हैं इससे ही हमारी भारतीयता का निर्माण प्रतिदिन प्रतिक्षण होता रहता है। हर घर में लीक में उलट फेर होते हैं।

चुनौती पैदा होती है कभी छोटी कभी बड़ी। आप इस चुनौती के सामने क्या करते हैं ? एक तरीक़ा तो यह है कि आप परम्परा या लीक या ढर्रे को और कस कर पकड़ लें और हर बदलाव को कोसना शुरू कर दें। लेकिन जैसे मैंने कहा परदादा की तरह हू-ब-हू होना सम्भव नहीं है। आपके लड़के ने अगर पगड़ी छोड़ दी है तो परदादा के नाम पर आप शायद हठ करके पगड़ी बाधेंगे और लड़के को बुरा भला कहेंगे। एक तनाव पैदा हो जायेगा। लेकिन क्या यह सच नहीं है कि पगड़ी न सही तो परदादा जिस तरह की मिर्जई या बगलबंडी पहनते थे उसे आप भी कब का छोड़ चुके हैं।

अब आप बहस करेंगे कि पगड़ी छोड़ने से भारतीयता चली जाती है मिर्जई छोड़ने से नहीं। या जनेऊ छोड़ने से भारतीयता चली जाती है मूँछ

मुड़वाने से नहीं तो मैं यही कहूँगा कि जरूर बहस कीजिए। आपको बहस के लिए सोचने के लिए ही तो मैं यह सारी बातें कह रहा हूँ। बहस आप अपने परिवार में करें या पड़ोसियों से एक बात याद रखियेगा हमारी आज की इस बहस में परदादा को घसीटने से कोई काम नही बनेगा। उनके सामने इस तरह की कोई बहस नहीं थी। तब क्या करें हार मानकर हर बदलाव के आगे आत्म समर्पण कर दें। लड़का पगड़ी छोड़ता है लड़की फिल्मी गाने गाती हैं पड़ोसी जनेऊ छोड़ता है, पट्टीदार मूँछें मुड़वाता है।

आप मन मारकर इसे नये जमाने की हवा कहकर चुप हो जाते है। मन बेचैन रहता है अन्दर भावनाएँ घुमड़ती रहती हैं लेकिन ऊपर से बिना पतवार की नाव की तरह फिसलन चलने लगती है। यह फिसलन की आदत पूरे राष्ट्र का रोग बन जाती है। बदलाव को रोका नहीं जा सकता सिर्फ़ लीक को पकड़े रहना न सम्भव है न बहुत सार्थक ही है। मगर फिसलते रहने से भी कोई नतीजा नहीं निकलता। अतीत तो हाथ से जाता ही है भविष्य भी हम नहीं बना पाते। इन दोनों कठिनाइयों के बीच से रास्ता यही है कि हम दिमाग़ को खुला रखें छाती चौड़ी करें और अपने को संकल्पहीन बदलाव की जगह संकल्पसहित बदलाव के लिए तैयार करें। यही वास्तविक भारतीयता है। इसके लिए जरूरी होगा कि हम हर चुनौती के सामने विवेक की धार को तेज करें। बेशक यह रास्ता कठिन है। लेकिन मैंने यह कब कहा कि भारतीयता का निर्माण आसान है।

संकल्पावन बदलाव कहने में आसान है लेकिन सवाल उठता है कि ज़िद्दी और अंधे दकियानूसीपन और बेरोक फिसलन के इस युग में बदलाव के संकल्प के लिए हम आधार क्या बनायें ? कुछ आधारों की ओर मैं संकेत करूँगा। सबसे पहले तो आप यह सोचें कि भारत देश बहुत बड़ा है। इसमें पचास करोड़ से ऊपर लोग रहते हैं हो सकता है निर्गुणरूप मे आपको यह बात मालूम हो लेकिन सगुणरूप में इसे अनुभव करने की कोशिश कीजिये। भारतवासी आप भी हैं जो गंगा के मैदान में हल चलाते हैं। या दफ्तरों में कामकाज करते हैं लेकिन भारतवासी वे भी हैं जो लद्दाख के बर्फीले चटियल ढलानों में रहते हैं। मध्यप्रदेश और बिहार के जंगलों के आदिवासी है और बम्बई, मद्रास या दिल्ली की सड़कों पर इठलाते हुए छैल छबीले नौजवान नवयुवतियाँ भी भारतवासी हैं। भारतीयता का एक काम यह है कि भाषा, संस्कार, खान-पान, धर्म की इस विविधता के बीच इन करोड़ों

लोगों को एक समाज की इकाई बनाकर रखे। सिर्फ़ फौज या एक केन्द्रीय शासन के बूते इस इकाई को कायम रखना लोगों में घनिष्ठता लाना ग़ैर-मुमकिन है इसके लिए कुछ और चाहिए।

गोआ का नाम आपने सुना होगा। कुछ दिन पहले वहाँ पुर्तगालियों का राज्य था। फ़ौज और शासन के बल पर पुर्तगाली कहते थे कि गोआ और पुर्तगाल एक ही इकाई है। लेकिन क्या हुआ ? गोआ के रहनेवालों का मन पुर्तगाल के समाज से एक नहीं हुआ ताक़त कितने दिनों तक चलती ? आख़िरकार गोआ के लोग पुर्तगाल से अलग होकर भारत के अंग हो गये। आज वहाँ तिरंगा लहराता है। यह न समझियेगा कि गोआ के लोगों के पुश्तैनी लोकाचार और आपके पुश्तैनी लोकाचार एक जैसे हैं; भाषा संस्कार धर्म आदि सबमें बड़े अन्तर हैं। अब अगर आपने अपने ही परदादा के लोकाचार को समूची भारतीयता मानने की ज़िद की तो आपको और गोआ को जोड़नेवाली कड़ी क्या होगी ? इकाई की यह भावना बढ़ भी सकती है। घट भी सकती है इसलिए इस विविधता के आगे उदार होकर अपने संस्कारों को बदलना ज़रूरी है ताकि आपके पुराने संस्कारों के भरोसे जो अपने पराये के छोटे-छोटे घेरे बने हैं उन्हें तोड़कर अपनेपन की चौहद्दी को समूचे भारतवासियों तक आप बढ़ा सकें।

अगर भारत में सिर्फ़ विविधता ही होती तो थोड़ी उदारता और अपने संस्कारों से भिन्न संस्कारों के लिए थोड़ा आदरभाव बना लेने से काम चल जाता। लेकिन भारत की सामाजिक इकाई में सिर्फ विविधता का ही ख़तरा नहीं है। इस विविधता के चलते दो बहुत बड़े और ख़तरे हैं, दरिद्रता और ग़ैरबराबरी। दरिद्रता आदमी के मन को लालची झपट्टामार और स्वार्थी बना देती है। ग़ैरबराबरी बड़े पैमाने पर अन्याय को जन्म देती है। आर्थिक ग़ैरबराबरी के साथ यह समाज जाति-पाँति के समूहों में बँटा हुआ है। जाति-पाँति सिर्फ़ अलग-अलग समूह नहीं बाँटती ऊँच-नीच का फ़र्क़ भी पैदा करती है और इस ऊँच-नीच के फ़र्क़ से न सिर्फ बड़े-बड़े अन्याय पैदा होते हैं समूची इकाई के भी टूट जाने का ख़तरा बना रहता है। मैं चाहूँगा कि इस पर आप सोचें। औसत आदमी को ध्यान में रखकर सोचें। अपने आपको ध्यान में रखकर सोचें। लोग भूख या अकाल से मर जाते हैं। दुर्घटनाओं में मरते हैं। दंगों में मरते हैं, सामाजिक अन्याय के शिकार होकर मरते हैं। आपका मन अगर इन बातों पर पूरी तरह नहीं तड़पता तो कहीं इसका

कारण यह तो नहीं है कि मरनेवाला आपकी जाति का नहीं था या आपके धर्म का नहीं था या आपके सम्प्रदाय का नहीं था। सोचकर अपने आप को जवाब दीजिये। अगर आप ईमानदारी से जवाब देंगे तो आप खुद समझ जायेंगे कि संकल्प के साथ बदलाव का आधार क्या होगा। संक्षेप में संकल्प समेत बदलाव के लिए तीन आधार मिलते हैं।

विविधता को बीच से सबको जोड़नेवाले नये संस्कारों की खोज और निर्माण, दरिद्रता और कंगाली से सम्पन्नता की ओर जाना, और साथ-साथ ग़ैरबराबरी को मिटाकर अधिक से अधिक समता को स्थापित करना। इन बदलावों के लिए सतत संघर्ष ही वास्तविक भारतीयता है। क्योंकि वह समाज को घने रिश्तों के साथ जोड़ती है।